स्मृतियाँ-साधक की

प्रकाशक :

आचार्यश्री विद्यासागर दि. जैन पाठशाला, बरेली, रायसेन (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ	क्र.	विवरण	पृष्ठ
1.	महाश्रमण दिगम्बराचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज	1	13.	महाव्रती का नमन	26
2.	उपसर्ग चीटियों का	3	14.	बन्ध और मुक्ति	28
3.	सर्पराज से भेंट	5	15.	जैन साधु	31
4.	एकीभाव स्तोत्र: गुरुकृपा का प्रभाव	6	16.	आध्यात्मिक प्रभाव	32
5.	भक्ति की शक्ति	8	17.	ललितपुर में आचार्य वर्षायोग	34
6.	करुणा हृदयी गुरुदेव	10	18.	शंका-समाधान	36
7.	कर्मबंध के रहस्य से कर्मक्षय	12	19.	मन को दण्ड	38
8.	उबलता दूध	14	20.	भावों का प्रभाव	40
3.	क्षमा के सागर	15	21.	अद्भुत शिल्पी	41
4.	प्यास की वेदना	16	22.	पक्षियों पर दया	43
5.	सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिरी	17	23.	आगम की बात	44
6.	कोन्नूर की गुफाएँ	19	24.	व्रती बनने की प्रेरणा	45
7.	सल्लेखना रूपी औषध	20	25.	नग्न रहने का कारण	47
9.	पूजन का पर्व	21	26.	क्षत्रिय धर्म	48
10.	जैन मन्त्र की महिमा	22	27.	पुष्प चरणों के आगे	49
11.	ध्यान में लीनता	23	28.	निर्दोष चर्या	50
12.	समता भाव	24	29.	गुरु की महानता	51
			30.	सहज समाधान	53

मनोभावना

पाठशाला के विद्यार्थियों के लिए शिक्षाप्रद अपयोगी संस्मरणों का संकलन "स्मृतियाँ-साधक की" नामक पुस्तक में किया गया है। आचार्यश्री जी कहते ही हमारी दृष्टि गुरुवर विद्यासागर जी पर चली जाती है। अत: आचार्यश्री शान्तिसागर जी के संस्मरण के साथ दिये गये प्रश्न में आचार्यश्री जी यानि हमारे गुरुवर विद्यासागर जी समझना। जिन मुनियों लेखकों के कृति से ये संस्मरण लिए गए हैं उन सभी के प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। सभी विद्यार्थीगण अपना जीवन पवित्र और उन्नत बनाएं। साधु बनकर आत्म कल्याण कर सकें इसी मंगल भावना के साथ कृति प्रकाशित की जा रही है।

प्रकाशक

महाश्रमण दिगम्बराचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज

दिगम्बर श्रमण परम्परा में वर्तमान युग में अनेक तपस्वी, ज्ञानी ध्यानी श्रमण हुए। उनमें आचार्य शान्तिसागर जी महाराज एक ऐसे प्रमुख श्रमण श्रेष्ठ तपस्वी रत्न हुए हैं, जिनकी अगाध विद्वत्ता, कठोर तपश्चर्या, प्रगाढ़ धर्म श्रद्धा, आदर्श चारित्र और अनुपम त्याग ने धर्म की यथार्थ ज्योति प्रज्ज्वलित की। आपने लुप्तप्राय:, शिथिलाचार ग्रस्त मुनि परम्परा का पुनरुद्धार कर उसे जीवन्त किया, यह निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा आपकी ही कृपा से अनवरत रूप से अद्यावधि प्रवाहमान है। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नगर बेलगाँव जिला चिकोड़ी तालुका (तहसील) में भोजग्राम है। भोजग्राम के समीप लगभग चार मील की दूरी पर विद्यमान येलगुल गाँव में नाना के घर आषाढ़ कृष्णा ६, विक्रम संवत् १९२९ सन् १८७२ बुधवार की रात्रि में शुभ लक्षणों से युक्त बालक सातगौड़ा का जन्म हुआ था।

मुनियों के प्रति उनकी अटूट भक्ति थी। वे अपने कन्धे पर बैठाकर मुनिराज को दूधगंगा तथा वेदगंगा नदियों के संगम के पार ले जाते थे। वे कपड़े की दुकान पर बैठते थे तो ग्राहक के आने पर उसी से कहते थे कि – कपड़ा लेना है तो मन से चुन लो, अपने हाथ से नाप कर फाड़ लो और बही में लिख दो। इस प्रकार उनकी निस्पृहता थी। आप कभी भी अपने खेतों में से पक्षियों को नहीं भगाते थे। बल्कि खेतों के पास पीने का पानी रखकर स्वयं पीठ करके बैठ जाते थे। फिर भी आपके खेतों में सबसे अधिक धान्य होता था। वे कुटुम्ब के झंझटों में नहीं पड़ते थे। उन्होंने माता-पिता की खूब सेवा की और उनका समाधिमरण कराया।

माता-पिता के स्वर्गस्थ होते ही आप गृह विरत हो गये एवं मुनि श्री देवप्पा स्वामी से ४३ वर्ष की आयु में कर्नाटक के उत्तूर ग्राम में ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी सन् १९१५ को क्षुल्लक के व्रत अंगीकार किये। आपका

नाम शान्तिसागर रखा गया। क्षुल्लक अवस्था में आपको कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था क्योंकि तब मुनिचर्या शिथिलताओं से परिपूर्ण थी। साधु आहार के लिए उपाध्याय द्वारा पूर्व निश्चित गृह में, मार्ग में एक चादर लपेट कर जाते थे, आहार के समय उस वस्त्र को अलग कर देते थे। आहार के समय घण्टा बजता रहता जिससे कोई विघ्न न आएं।

महाराज ने इस प्रक्रिया को नहीं अपनाया और आगम की आज्ञानुसार चर्या पर निकलना प्रारम्भ किया। इस प्रकार लगभग ३-४ वर्षों तक क्षुल्लक, ऐलक पद का निर्वाह करते हुए सन् १९१९ यरनाल पंचकल्याणक महोत्सव के अवसर पर आपने मुनि देवेन्द्रकीर्ति जी से मुनि दीक्षा अंगीकार की। सन् १९२४ समडोली वर्षायोग के दौरान चतुर्विध संघ द्वारा आपको आचार्य पद से अलंकृत किया गया। आचार्यश्री ने सन् 1920 में निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ली थी। उस समय से लेकर 1955 तक 35 वर्षों में 9938दिन के उपवास किए। अर्थात् 27 वर्ष 3 माह, 23 दिन के उपवास किए जो उनकी विशिष्ट आत्मशक्ति का द्योतक है।

जीवन पर्यन्त मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए ८४ वर्ष की आयु में दृष्टि मंद होने के कारण सल्लेखना की भावना से आचार्य श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरीजी पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने १३ जून को विशाल धर्म सभा के मध्य सल्लेखना धारण करने के विचारों को अभिव्यक्त किया। १८ सितम्बर, १९५५ को प्रातः ६:५० पर 'ॐ सिद्धोऽहं' का ध्यान करते हुए युगप्रवर्तक आचार्य श्री शान्तिसागर जी ने नश्वर देह का त्याग कर दिया। संयम-पथ पर कदम रखते ही आपके जीवन में अनेक उपसर्ग आये जिन्हें समता पूर्वक सहन करते हुए आपने शान्तिसागर नाम को सार्थक किया।

आचार्य श्री जी के जीवन में घटित कुछ घटनाएँ जो हमें प्रेरित करती है संयम पथ की ओर और गुरु के प्रति श्रद्धा से भर देती हैं।

उपसर्ग चीटियों का

एक दिन आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज निद्रा विजय तप का पालन करने का सुविचार लेकर एक जंगल में स्थित मंदिर के भीतर एकान्त स्थान में ध्यानस्थ हो गये।

शाम का वक्त मंदिर का पुजारी - दीपक में तेल डालते समय कुछ तेल उसके आसपास भी बिखर गया। तेल की गंध से चीटियों की कतारें आना प्रारम्भ हो गई। थोड़े ही समय में असंख्य चीटियों का समुदाय वहाँ एकत्रित हो गया। वे धीरे-धीरे आचार्य श्री के शरीर पर रेंगने लगीं।

रेंगते हुए उन्होंने शरीर के अधोभाग, नितम्ब आदि को काटना प्रारम्भ कर दिया और कुछ समय के बाद आचार्य श्री के अधोभाग से खून रिसने लगा। चीटियों की दंश-वेदना कितनी असह्य होती है? चींटियाँ देह के कोमल गुप्तांग को रात भर काटती रहीं, लेकिन आचार्य श्री उस असहनीय पीड़ा को अविचल ध्यानारूढ़ होकर समतापूर्वक सहन करते रहे। शायद उन क्षणों में वे नरकों की वेदना को स्मरण में लाकर सोचने लगे होंगे कि उस वेदना से यह बड़ी नहीं है। भेद विज्ञान के परमभाव से

परिपूर्ण आचार्यश्री इस परिषह को रात-भर सहन करते रहे। उपसर्ग की इस अंधियारी रात्रि में पुजारी को स्वप्न दिखा और वह सिहर कर उठ भी जाता है, लेकिन अपने दूसरे साथी के आलस्य और जंगल में रात्रि में शेर के भय के कारण, दोनों सुबह होने की प्रतीक्षा में पुन: सो जाते है।

एक ओर छोटी-छोटी असंख्य चींटियों का यह घोर उपद्रव चलता रहा और दूसरी ओर वह शरीरधारी मुनि अपनी तपस्या को परिषह की अग्नि में और परिष्कृत करता रहा। प्रात: काल के उजाले में जनसमूह वहाँ एकत्रित होकर जब यह दृश्य देखता है तो जन-जन की संवेदनाएं रो उठती हैं। अश्रुधारा बहाने और पश्चाताप करने के सिवाय उनके पास और क्या बचा था?

दूसरी जगह शक्कर डालकर चींटियों के अलग होने की प्रतीक्षा की जाने लगी। प्रतीक्षा की वह घड़ी कितनी लम्बी रही होगी और संतप्त-हृदयों ने उस करुणामयी दृश्य का साक्षात्कार कर योगीराज के परम निर्विकार भाव को सभी लोग देख रहे थे। वेदना पर विजय और तप की तेजस्विता की यह अप्रतिम घटना थी।

धन्य है आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की यह विलक्षण तप साधना और परिषह-जय की अकथ-कथा।

संस्मरण : आचार्यश्री

हरपीस रोग की पीड़ा के साथ ही आचार्यश्री जी ने पेड्रारोड से अमरकंटक के लिये विहार कर दिया। ऊँची-ऊँची घाटियाँ और मूसलाधार बारिस भी आत्मसाधक को रोक न सकी। आखिर आचार्यश्री अमरकंटक में प्रवेश कर गये और तत्काल ही मंच पर पहुँच गये, वह थके हुए थे एवं पैर में वेदना थी। वे प्रवचन में बोले- "पहाड़ तो इरादों ने चढ़ा है पैर क्या चढ़ते।" मुझे तो ऐसा लग रहा था जैसे प्रकृति का और आचार्य श्री का इरादा एक जैसा हो।

सर्पराज से भेंट

जंगल में एक गुफा में वे ध्यानस्थ थे। अचानक एक सात-आठ हाथ लम्बा-विषधर फण उठाये आचार्यश्री के आगे खड़ा हो गया। उसके शरीर पर बाल उगे हुए थे तथा ताम्र-लाल रंग की दो आँखें चमक रही थीं। उसकी लपलपाती जीभ मानो विष के अंगारे उगलने को उद्यत थी। आचार्य श्री निर्निमेष दृष्टि से उसे देख रहे थे और वह आचार्यश्री को आग्नेयदृष्टि से देख रहा था। आचार्यश्री की अभय मुद्रा में अनुकम्पा/अहिंसा की अमिय भावना विराजमान थी।

सर्पराज वात्सल्य की करुणा मूर्ति को निहार रहा था और शान्ति के सागर उस यमराज को एक आगन्तुक दर्शनार्थी की भाँति धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दे रहे थे। अद्‌भुत दृश्य था अमृत और विष के मिलन का।

पण्डितजी ने प्रश्न किया कि मृत्यु से साक्षात्कार के उन क्षणों में आप क्या सोच रहे थे?

महाराजश्री ने जो उत्तर दिया वह उनकी कर्मसिद्धान्त पर गहरी आस्था का प्रतीक था। उन्होंने कहा -''यदि मैंने इस जीव का पूर्व में कभी कोई बिगाड़ किया होगा, तो वह भी हमें बाधा पहुँचायेगा, अन्यथा वह चुपचाप चला जायेगा।''

आचार्यश्री की शान्त/सौम्य/अभय मुद्रा का ऐसा विलक्षण प्रभाव उस तिर्यञ्च सर्पराज पर पड़ा कि अपना फण नीचा करके मानो उनके चरणों में नतमस्तक होकर धीरे-धीरे गुफा के बाहर चला गया।

एकीभाव स्तोत्रः गुरुकृपा का प्रभाव

एक श्रावक के मस्तक पर कुष्ठ रोग का सफेद चिह्न दिखाई दिया, जो धीरे-धीरे उनके मस्तक पर बढ़ने लगा। इस दुश्चिन्ता में वे इतने व्यथित हुए कि एक बार उन्होंने आत्महत्या का विचार भी कर लिया, लेकिन यह सद्विचार आड़े आ गया कि संक्लेश रूप जघन्य परिणामों से मरण को प्राप्त होने पर न जाने किस योनि में जाकर कष्ट भोगना पड़ेगा? उन्हें बाहर लोगों के सामने जाने में लज्जा और संकोच होने लगा।

कुष्ठ रोग के प्रति लोगों की धारणायें आज से ५० वर्ष पूर्व अच्छी नहीं थी। इसका सम्बन्ध वे हीनाचरण से जोड़ लेते थे। आचरणवान ब्रह्मचारी जी की यही मनोव्यथा थी। होनहारता ने ब्रह्मचारी जी के मन में यह दृढ़भाव उत्पन्न किया कि क्यों न आचार्यश्री के समक्ष अपनी मनोव्यथा प्रकट कर दूँ? दुःख को कह देने से उसका दबाव कम हो जाता है।

एक विश्वास के साथ सजल नेत्रों से वे कहने लगे – " भगवन् ! मैं अपने पापोदय के कर्म विपाक को झेल पाने में असमर्थ हूँ और आत्मघात के खोटे विचार से भर गया हूँ। अस्तु समाधान की आशा में आपके चरण सान्निध्य में आया हूँ।"

संत का आशीर्वाद मुखर हुआ- "घबराओ मत। तुम्हारा रोग शीघ्र ही दूर हो जावेगा। दिन में तीन बार एकीभाव स्तोत्र का शुद्धतापूर्वक पाठ प्रारम्भ करो।"

जैसे जीवन का मूलमन्त्र हाथ लग गया हो। ब्रह्मचारी जी ने पूरी एकाग्रता से एकीभाव स्तोत्र का पाठ लगभग चार सप्ताह किया, कि वह रोग स्वतः शान्त हो गया। लेकिन मस्तक में एक छोटा सफेद दाग फिर भी

शेष रह गया। ब्रह्मचारी जी ने कहा- महाराज श्री ! यह दाग अभी बाकी है।

परमपूज्य आचार्य श्री गुरुवर का मंगल आशीष से उठा हुआ हाथ उनके मस्तक को स्पर्श करते ही वह सफेद दाग भी न जाने कहाँ गायब हो गया? धन्य है आचार्यश्री का जादुई संस्पर्श और अनोखी सिद्धि का तत्क्षण प्रभाव।

संस्मरण : आचार्यश्री

किसी ने शंका व्यक्त करते हुए कहा- शारीरिक साधना भी तो बहुत बड़ी साधना कहलाती है। तब आचार्य श्री ने कहा कि- मानसिक साधना प्रधानमंत्री के समान है और शारीरिक साधना कलेक्टर के समान है। जहाँ प्रधानमंत्री आ जाता है वहाँ कलेक्टर आदि सब आ जाते हैं। जब मानसिक साधना वृद्धि को प्राप्त होती है तब शारीरिक साधना भी वृद्धि को प्राप्त होती चली जाती है।

आचार्य श्री जी धर्मध्यान कैसे किया जाए? तब आचार्य श्री जी ने कहा कि- धर्मध्यान करना कठिन नहीं है कोई फावडें-गेंती नहीं चलाना पड़ती, बल्कि आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग करना पड़ता है। धर्मध्यान करने का सबसे अच्छा तरीका है आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर दो धर्म अपने आप हो जाएगा।

तब किसी ने कहा- आचार्य श्री जी एकदम आर्तध्यान नहीं छूटता। पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हैं तो पचास व्यक्ति याद आ जाते हैं। आचार्य श्री ने उदाहरण देते हुए कहा कि- जैसे खदान में हजार पत्थर मिल जाते हैं, लेकिन हीरे की कणिका एकाध ही मिल पाती है। उसी प्रकार आर्त्त-रौद्रध्यान मुफ्त में हो जाता है, लेकिन धर्मध्यान करने के लिए बहुत प्रयास करना पड़ता है।

भक्ति की शक्ति

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज कोगनोली में विराजमान थे। चतुर्मास का समय निकट था। समीपवर्ती गाँववासी पूज्य आचार्य श्री की चरणरज से अपनी गाँव की माटी को चन्दन बना लेना चाहते थे। भला कौन ग्रामवासी पूरे चार माह तक अपने आराध्य गुरु की सेवा का सौभाग्य लेना न चाहता था?

प्रार्थना का श्रीफल गुरु के चरणों में भेंट होता रहा। आचार्य श्री को बस अंतिम निर्णय लेना था। सभी की आँखें आचार्यश्री के आदेश पर टिकीं थी। ग्राम नसलापुर के श्रावकजन भी आये हुए थे और आचार्य श्री की सेवा सुश्रुषा तथा वैय्यावृत्ति के परम सौभाग्य से वे वंचित नहीं होना चाहते थे।

नसलापुर के उन्हीं भक्तगणों में भीमशा मकदूम नामक व्यक्ति था। वह एक और भक्ति की शक्ति से भरा था तो दूसरी ओर शरीर सौष्ठव और शारीरिक शक्ति भी गजब की थी। आचार्यश्री के दर्शन से इतना अभिभूत हुआ कि उसने ऐसी महान् आत्मा को अपने गाँव में ले जाने की ठान ली।

आचार्यश्री गाँव के बाहर एक गुफा में ध्यानस्थ थे।

ब्रह्म मुहूर्त की बेला थी और महाराजश्री सामायिक में बैठे ही थे कि भीमशा अपने साथियों के साथ वहाँ आया। दर्शन करते समय न जाने कौन-सा विचार उसके मस्तिष्क में कौंध गया कि महाराजश्री इस समय न तो बोलेंगे और न ही किसी प्रकार का प्रतिरोध करेंगे। उसने भक्ति के साथ शारीरिक शक्ति का उपयोग किया।

भीमशा ने महाराजश्री को आसन सहित उठाकर अपने बलिष्ठ कंधों पर विराजमान कर शीघ्र ही नसलापुर की ओर प्रयाण कर दिया। सूर्योदय होते-होते लगभग बारह किलो मीटर यमगरणी ग्राम पहुँच गया।

प्रभात किरणों के साथ आचार्यश्री का मौन टूटा और उन्होंने भीमशा से कहा– "अरे बाबा! अब तो हमें नीचे उतरने दो।" भीमशा की उत्कट भक्ति और साहस की पराकाष्ठा देखकर महाराजश्री हँस पड़े। उनकी मुस्कान के साथ भीमशा की सारी थकान छूमन्तर हो गई।

इधर कोगनोली की गुफा में महाराज को न पाकर गाँव के श्रावक जन चिन्तित हो उठे और खोजते हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ वे विराजमान थे।

लोगों ने वहाँ अपने गाँव में चातुर्मास हेतु प्रार्थना की जो महाराज हँसते हुए भीमशा की ओर इशारा करते हुए बोले– भीमशा बैठा है। इसकी भक्ति यहाँ तक ले आई और नसलापुर में चातुर्मास की स्थापना का निश्चय हो गया।

संस्मरण : आचार्यश्री

एक बार किसी भव्यात्मा को नमोस्तु करने के उपरान्त आचार्य श्री का आशीर्वाद नहीं मिला, तब उन्होंने आचार्य भगवंत से कहा कि– आचार्य श्री कई बार आपका आशीर्वाद नहीं मिलता तो आकुलता होती है। आचार्य श्री ने सहजता से उत्तर दिया कि नमोस्तु करते समय आप लोगों का सिर नीचे रहता है, इसलिए आशीर्वाद का हाथ उठता भी होगा तो आप लोगों को दिखता नहीं है।

अपने श्रद्धान को मजबूत बनाईये, गुरु का आशीर्वाद तो चाहे प्रत्यक्ष या परोक्ष हो वह हमेशा रहता है। आचार्य श्री ने उदाहरण देते हुए समझाया कि जब आपकी अच्छी, जैसा आप चाहते थे वैसी फोटो खिच गई हो तो आप अपने पास रख लेते हैं, वैसे ही आशीर्वाद की एक बार की मुद्रा को अपनी धारणा में रख लो और उसी को स्मृति में लाते रहें।

करुणा हृदयी गुरुदेव

प्रस्तुत घटना आचार्य श्री के गृहस्थ जीवन से जुड़ी है।

जब शौच हेतु वे अपने खेत की ओर गए। उन्होंने देखा कि उनका नौकर, ज्वार का गट्‌ठा बाँधकर चोरी से ले जा रहा है। वे पीठ करके चुपचाप बैठ गए। महाराजश्री ने उस समय विचार किया 'बुभुक्षित किं न करोति पापं' गरीबी से अभिशप्त भूखा व्यक्ति यदि पेट के लिए अनाज ले जा रहा है, तो ले जाने दो। निर्धनता की सहानुभूति से उनका हृदय पिघल गया। उसके प्रति अनदेखा भाव करके उससे कुछ नहीं कहा।

इस घटना ने नौकर को इतना प्रभावित किया कि वह पीछे से महाराजश्री के घर आकर क्षमा माँगते हुए कहने लगा – "अण्णा! मैं खेत से ज्वार ले जा रहा था, महाराज ने देख भी लिया लेकिन कुछ नहीं कहा। मैं इस कृत्य के लिए बहुत लज्जित हूँ।"

बारामती में आचार्यश्री का वर्षायोग १९५१ में सम्पन्न हो रहा था। महाराज श्री समायिक में थे। चिड़िया का एक बच्चा, मकान के ऊपरी भाग में बने घोंसले से नीचे आ गया। उसके पंख भी विकसित नहीं हो पाए थे, जिससे वह उड़ नहीं पा रहा था। माँ के बिछोह में वह इधर-उधर फुदक रहा था।

सामायिक से उठकर महाराजश्री को उसकी रक्षा का भाव आया अन्यथा कौआ उसे चोंच में दबाकर ले जा सकता था। उन्होंने कर्मचारी को अपने पास बुलाया और चर्चा करने लगे। पण्डित सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर उसी समय शास्त्र पढ़ने आचार्यश्री के पास आ गए। आचार्यश्री कर्मचारी से बात कर रहे थे। चिड़िया के बच्चे के रक्षार्थ उन्होंने भावना व्यक्त की।

एक नसैनी मंगाई और बच्चे को यथावत् उसके घोंसले में रखवा

दिया गया। पुनः नीचे न गिर जावे, इसलिए आड़ का पटिया भी लगवा दिया। थोड़ी देर बाद बच्चे की माँ आ जाती है और उसे उठाकर ले गई। यह देखकर महाराज श्री ने आत्म संतोष की सांस ली और बोले उस बच्चे की माँ आ गई, अब उसके जीवन की चिन्ता नहीं रही। संत की करुणा में कितनी गहराई होती हैं?

पक्षी की माँ के बिछोह से वे स्वयं विचलित हो गए। जो अपने तप में इतने कठोर हो जाते हैं, वे दया भाव में फूल से भी ज्यादा कोमल।

संस्मरण : आचार्यश्री

किसी सज्जन ने शंका व्यक्त करते हुए कहा कि– आचार्य श्री जी दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आम्नाय में से मूलधारा कौन–सी है। इस बात को सुनकर आचार्य श्री कुछ क्षण मौन रहे, ऐसा लगा जैसे चिंतन में खो गये हों। फिर नदी का उदाहरण देते हुए बोले कि –

जब नदी की धारा अबाध रूप से बह रही हो और बीच में यदि बड़ा पत्थर(पहाड़) आ जाए तो दो धारायें बन जाती हैं। ठीक उसी प्रकार महावीर भगवान की मूल दिगम्बर धारा अबाध रूप से चल रही थी बीच में १२ साल का अकाल पड़ने रूप (पत्थर) बीच में आ गया तो एक धारा श्वेताम्बर और बन गयी। अब आप स्वयं तय कर लो मूल धारा कौन है? संख्या की अपेक्षा नहीं चर्या की अपेक्षा भी पहचान कर सकते हैं। सूक्ष्मता से व्रतों का पालन जिस धारा में हो वही मूलधारा है।

कर्मबंध के रहस्य से कर्मक्षय

हम दु:ख में क्यों पड़े हैं? सुख चाहने पर भी मिलता क्यों नहीं? सही तो यह है कि सुख और दु:ख कर्माधीन हैं। जैसा कर्म बांधते हैं, उसके विपाक के समय वही प्राप्त होता है।

व्यक्ति जो बोता है वही काटता है। जैसा कर्मबीज बोते हैं, सुख/दु:ख की फसल उसी कर्म के विपाक का फल होता है।

आचार्यश्री ने एक बोध कथा कही –

एक राज पुरोहित ने अपने पुत्र को अर्थकारी विद्यार्जन न कराकर केवल यह शिक्षा दी थी कि अमुक कार्य करने से अमुक कर्म का बंध होता है। विप्र–पुत्र सांसारिक चतुरता नहीं सीख पाया। उसे केवल बंध शास्त्रों का ज्ञाता बनाया।

राज पुरोहित के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् आर्थिक विपन्नता से वह जूझने लगा। जीविकोपार्जन का साधन उसके पास था नहीं। अस्तु चोरी करने के लिए विवश हो गया।

वह राजा के खजाने में चोरी करने के लिए घुसा। उसने रत्नों का हार चुराने के लिए हाथ उठाया। परन्तु उसी समय उसे स्मरण आया कि रत्नों की चोरी से इस प्रकार का बंध होता है, अस्तु उसने हार वहीं रख दिया। इसी प्रकार वह सोने और चाँदी की अनेक वस्तुओं को उठाता, परन्तु कर्मबंध का विचार कर वहीं वापस रख देता। परेशान है कि जिस मूल्यवान वस्तु उठाने–चुराने वह हाथ बढ़ाता, कर्मबंध का ज्ञान उसके हाथों को पीछे खींच लेता है।

निराश हो लौटते हुए, उसने एक जगह भूसा का ढेर लगा देखा। भूसा चुराने का क्या दोष होता है? उसके पिताश्री ने नहीं बताया था। भोला विप्रपुत्र भूसा का गट्ठा बाँधकर साथ ले जाने लगा। राजा के सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया।

राजा को जब यह ज्ञात हुआ कि राजपुरोहित का पुत्र है तो राजा ने बुलाकर पूछा कि तुमने भूसा की चोरी करना क्यों पसंद किया?

विप्रपुत्र कहने लगा कि - राजन् ! मेरे पिताजी ने केवल बंध शास्त्र का अध्ययन कराया था। मैंने राजकोष के हीरे और स्वर्णाभूषण चुराने का दु:साहस किया लेकिन उनके चुराने का बड़ा दोष लगता है अस्तु वहीं छोड़कर ज्योंही बाहर आया, देखा कि भूसे का ढेर लगा है जिसे लेने में ज्यादा दोष नहीं लगता अत: मैंने उठा लिया।

राजा ने विप्रपुत्र को पाप भीरू और सत्यनिष्ठ समझकर उसे राज्य में ऐसे पद पर रख लिया जिसमें उसे कष्ट न हो और उसकी जीविका आसानी से चल सके।

बंध का ज्ञान होने पर आदमी पाप से बच जाता है। बंध का रहस्य मोक्ष के द्वार खोलता है और कर्म-निर्जरा की ओर प्रेरित करता है।

संस्मरण : आचार्यश्री

विहार करते हुए नेमावर की ओर से जा रहे थे। रास्ते में ही आचार्य श्री जी से पूछा - आप तो आचार्य श्री जी नवमीं कक्षा तक पढ़े हैं और हम लोगों को एम0ए0 पढ़ने के लिए कहते हैं। यदि आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज ने आपको एम0ए0 तक पढ़ने को कहा होता तो आप हम लोगों को कहाँ तक पढ़ने को कहते- पी.एच.डी., लॉ आदि। आचार्य श्री जी हँसकर बोल उठे - नहीं पहले मल्लिसागर जी (मल्लप्पा जी) कहते थे ज्यादा क्या पढ़ना, खेती-किसानी तो करना ही है। मेन सब्जेक्ट तो कृषि ही है। यह हल चलाओ जो कि समस्त समस्याओं का हल है। पहले लोग नौकरी(सर्विस) को अच्छा नहीं मानते थे, खेती को ही प्रधानता देते थे। उत्तम खेती, मध्यम व्यापार और जघन्य नौकरी ऐसा मानते थे, इसलिए दक्षिण में आज भी नौकरी को अच्छा नहीं मानते है।

उबलता दूध

आचार्यश्री एक बार आहार-चर्या के लिए निकले। एक श्रावक के द्वार पर योग्य आहार विधि मिल गई और महाराजश्री का भोजनशाला में भी प्रवेश हो गया। सिद्धभक्ति की और त्रिशुद्धि बोलने के पश्चात् महाराजश्री ने अंजुलि बाँधी और आहार लेने के लिए तैयार हो गए।

उस समय महाराजश्री गरम दूध और चावल का आहार ही लिया करते थे। श्रावक के पास उबलता हुआ दूध पतीली में रखा था। कभी-कभी अशुभ कर्मोदय के कारण अज्ञानता अविवेक को जन्म देती हैं। "विनाशकाले विपरीत बुद्धि" की कहावत चरितार्थ हुई। उस श्रावक ने गरम दूध के बर्तन को कपड़े से पकड़ा और हड़बड़ी में वह अति उष्ण दूध आचार्यश्री की बंधी अंजुलि में डाल दिया। उसने विवेक का जरा

भी इस्तेमान नहीं किया कि जिस बर्तन को वह कपड़े से पकड़े है, उसका उबलता दूध अंजुलि में कैसे डालें?

दूध के अंजुलि में गिरते ही उष्णता की असह्य पीड़ा से महाराजश्री मूर्च्छित से होकर जमीन पर बैठ गये।

पूज्य नेमिसागर महाराज उस समय गृहस्थावस्था में नेमण्णा श्रावक के रूप में वहाँ उपस्थित थे। आचार्यश्री को संज्ञाहीन देखकर सभी लोग घबरा गये। नेमण्णाजी उनके जीवन का अंतिम समय समझकर णमोकार महामन्त्र कानों में जोर-जोर से सुनाने लगे।

कुछ समय पश्चात् जब महाराजश्री की मच्र्छा दूर हुई और उन्होंने आँखे खोलीं, तब लोगों की जान में जान आयी।

आहार का अन्तराय तो हो ही चुका था।

महाराजश्री के मुखमण्डल पर क्रोध की रेखा तक नहीं थी। क्षमाभाव पूर्वक शान्त मन से उठे और इस परिषह को ऐसे सहन कर गए जैसे कुछ क्षण पहले कुछ हुआ ही न हो।

क्षमा के सागर

आचार्यश्री के साथ ग्राम कोगनोली में एक अप्रत्याशित घटना घटित हुई। कोगनोली आचार्यश्री की प्रारम्भिक तपस्थली है। जहाँ उन्होंने रसों को त्यागकर पूर्ण दिगम्बर मुद्रा में रहकर आहार विहार शुरू किया, क्योंकि इससे पूर्व के मुनि आहार के लिए जाते वक्त वस्त्र धारण कर लिया करते थे।

कोगनोली गाँव के बाहर निर्जन स्थान में बनी गुफाओं में वे रात्रि व्यतीत कर आत्मलीन हो जाया करते थे।

एक बार नगर का एक पागल जंगल में पहुँच गया। उसके हाथों में एक लकड़ी थी, जिसके अग्रभाग में नोंकदार लोहे की वस्तु लगी थी। उससे बैलों को कौंचन का काम लिया जाता था।

उस पागल ने महाराजश्री के पास जाकर रोटी माँगी। ऐ बाबा! जोर की भूख लगी है, रोटी दो। लेकिन बाबा के पास क्या था? वे मौन पूर्वक आत्मलीन रहे। महाराज को शान्त देख पागल उत्तेजित हो उठा और उसने लकड़ी से महाराजश्री को मारना शुरू कर दिया। शरीर के अनेक भागों में लोहे की नोंक से घाव हो गए। जहाँ से खून बहने लगा। महाराजश्री के हाथ लकड़ी के प्रहार से सूज गए। ऐसी विकट परिस्थिति में उसे रोकने वाला वहाँ कोई नहीं था। पागल उपद्रव किये जा रहा था। फिर न जाने उसकी बुद्धि में क्या आया कि वह गुफा से बाहर हो गया।

सबेरा हुआ। दर्शनार्थी आये उन्होंने आचार्यश्री के शरीर पर अनेक जगह नीले निशान देखे और घावों से खून बहता हुआ भी । परन्तु वे महान् तपस्वी धन्य हैं, जो ऐसी परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते हैं।

बिजली की भाँति यह घटना गाँव में फैल गई और श्रावक जनों की भीड़ आचार्यश्री के पास उपस्थित हो गई। बहुत पूछने पर भी आचार्यश्री शान्त भाव से मौन रहें।

बहुत अनुनय विनय के पश्चात् कोगनोली बस्ती में लाया गया, जहाँ उपचार और वैय्यावृत्ति से उन्हें स्वास्थ्य लाभ मिल पाया।

प्यास की वेदना

एक बार आचार्यश्री आहार को निकले। एक श्रावक ने भक्तिपूर्वक आहार दिया लेकिन जल देना भूल गया।

दूसरे दिन भी आहार दाता आहारोपरान्त जल देना भूल गया। यद्यपि महाराजश्री ने कुछ समय तक जल के लिए प्रतीक्षा की, फिर बिना जल ग्रहण किए चुपचाप बैठ गए।

प्यास की वेदना को समतापूर्वक सहना महान् तपस्वी की ही साधना होती है। तीसरे दिन भी दातार की बुद्धि की बलिहारी कि वह जल देने की बात विस्मृत कर गया।

जलाभाव के कारण महाराजश्री छाती पर उष्णता के कारण फफोले पड़ गये। ऐसी परिस्थिति में भी वे गम्भीर बने रहे।

अगले दिन अन्तराय कर्म का उदय मंद हुआ और दातार श्रावक ने महाराज को जल दिया। अन्य आहार लेने की योग्यता उनके शरीर में नहीं रह गई थी। अस्तु वे जल लेकर बैठ गये।

जिज्ञासु श्रावकों ने प्रश्न किया – ''महाराज! आज आपने दूध तक ग्रहण नहीं किया। ऐसा क्यों?''

आचार्यश्री ने गम्भीर होकर कहा –''शरीर को आज केवल पानी की जरूरत थी और आप लोग दूध देने के इच्छुक थे।''

साधु का आहार भी एक तप है। कर्म निर्जरा का साधन है।

संस्मरण : आचार्यश्री

प्रवचन सभा में एक पंडित जी भी उपस्थित थे, उन्होंने कहा इतने बड़े संघ के दर्शन मिलना बड़े ही सौभाग्य की बात है, पुण्य की बात है, इसमें आचार्य श्री तो ओरीजनल हैं एवं सभी महाराज फोटोकापी हैं। तव आचार्य श्री जी की अन्तर्दृष्टि कह उठी –अन्तर का भेद नहीं– पं. जी ध्यान रखना ये सभी ओरिजनल कापी हैं। डुप्लीकेट नहीं समझना।

सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिरी

पूज्य आचार्यश्री संघ सहित वहाँ विराजमान थे। रात्रि में द्रोणगिरि की पर्वतमाला में स्थित मन्दिरों पर ध्यान करने वे चले जाया करते थे। पर्वत पर रात्रि विश्राम और सुबह पर्वत से नीचे उतरकर दर्शनार्थियों को दर्शनलाभ दिया करते थे। यह दैनिक मुनि-चर्या का कार्यक्रम था।

प्रतिदिन महाराजश्री प्रातः ८ बजे नीचे आ जाया करते थे। एक दिन घण्टे डेढ़ घण्टे का विलम्ब हो गया लेकिन महाराजश्री पर्वत से नीचे नहीं उतरे। लोगों में व्याकुलता बढ़ रही थी। वैसे भी प्रतीक्षा की घड़ी लम्बी होती है।

शंका और आशंकाओं के बीच लोग व्याकुल थे कि आज आचार्यश्री नीचे क्यों नहीं आये? लोगों को पर्वत पर सिंह के विचरण का भी पता था। आखिर धैर्य टूटा और लोग पहाड़ पर गये। देखा महाराजश्री नीचे आ रहे हैं। एक जिज्ञासु श्रावक पूछ बैठा। स्वामिन्! आज इतना विलम्ब क्यों? महाराज-मौन थे। एक अन्य व्यक्ति ने कौतूहलवश आशंका व्यक्त की -"पर्वत पर कभी-कभी सिंह आ जाया करता है। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ आचार्यश्री?"

आखिर महाराजश्री को मौन तोड़ना पड़ा - संध्या से ही एक सिंह पास में आ गया। वह रात भर बैठा रहा। थोड़ी देर पहले वह हमारे पास से उठकर चला गया।

एक श्रावक ने प्रश्न किया - महाराज श्री! क्या आपको उस हिंसक व्याघ्र से भय नहीं हुआ? आचार्यश्री की मुस्कान उत्तर दे गई। एसी ही एक घटना मुक्तागिरी पर्वत पर भी घटित हुई थी। एक शेर

प्रतिदिन पास के बहते झरने में पानी पीने आया करता था, आचार्यश्री ध्यानस्थ आत्मलीन रहते थे।

महाराज श्री ने श्रावक से कहा – किस बात का भय? यदि वह पूर्व का बैरी न हो और हमारी ओर से कोई बाधा या आक्रमण न हो तो वह क्यों आक्रमण करेगा?

अहिंसक अभय और मैत्री भावना से युक्त होता है। हिंसा के भाव उसके सामने उपशम हो जाते हैं।

संस्मरण : आचार्यश्री

एक बार आचार्य महाराज जी ने बताया कि पाठ करते समय मात्र पाठ(शब्दों) की ओर दृष्टि जाने पर लीनता नहीं आती है बल्कि लीनता तो अर्थ की ओर जाने पर आती है। शिष्य ने कहा– लेकिन आचार्य श्री जी अर्थ की ओर चले जाते हैं तो पाठ भूल जाते हैं।

आचार्य श्री ने कहा– भूलना तो स्वभाव है। ''जैसे ज्ञान आत्मा का स्वभाव है वैसे ही भूलना मनुष्य का स्वभाव है।'' मनुष्य तो भूल का पुतला है। दूसरे शिष्य ने कहा– भूलता तो पागल है, आचार्य श्री जी बोले– यह भी एक भूल है, दूसरे को पागल कहना। भूल तो मात्र भगवान से नहीं होती बाँकी सभी से होती है। अन्त में उन्होंने कहा– अनावश्यक को भूलना सीखो तो आवश्यक स्मरण में रहेगा। मनोरंजन में नहीं आत्मरंजन में रहना सीखो।

कोन्नूर की गुफाएँ

आचार्यश्री कोन्नूर की गुफा में सामायिक में ध्यानस्थ थे। झाड़ी से एक सर्प गुफा में प्रवेश कर गया। गुफा में इधर-उधर चक्कर लगाने के बाद जैसे ही बाहर निकलने के प्रवेश द्वार की ओर बढ़ा कि एक दर्शनार्थी के नारियल चढ़ाने की आवाज से वह पुन: भीतर हो गया।

अब वह महाराजश्री के निकट पहुँचा और उनके शरीर पर चढ़कर उन्हें बाधा पहुँचाने लगा। परन्तु विमल ज्योति स्वरूप उनके आत्म चिन्तन में सर्प उन्हें भय से भयभीत न कर सका। वे न केवल शरीर से वरन् अपने भावों में मेरु की भाँति अचल बने रहे।

एक गुफा में आचार्यश्री अष्टमी, चतुर्दशी के दिन ध्यानारूढ़ हो जाया करते थे। घटना के दिन उनका मौन व्रत भी था। एक उड़ने वाला सर्प महाराज के निकट पहुँचा और जंघाओं के बीच आकर छिप गया।

मध्याह्न का समय था। वह लगभग तीन घण्टे तक इस प्रकार उपद्रव करता रहा लेकिन आचार्यश्री ने अपनी स्थिर मुद्रा को भंग नहीं किया।

सर्प उनसे लिपट कर जैसे उनसे मैत्री और आत्मीयता प्रकट कर रहा हो। वह अपने विषदंश के स्वभाव को भूल कर उनके संस्पर्श से मानों कृत धन्य हो गया हो।

नंदादीप अखण्ड दीपक की ज्योत देखने पण्डित मंदिर आया। वह आचार्यश्री के शरीर पर सर्पराज को लिपटे हुए देखकर जान छोड़कर भागा। लोगों की भीड़ एकत्रित हो गई। लोग बल प्रयोग द्वारा भी उसे भगा नहीं पा रहे थे, क्योंकि इससे सर्पदंश की भयानक स्थिति निर्मित हो सकती थी।

समय बीतता गया और सर्प शरीर से उतरकर धीरे-धीरे बाहर खिसक गया। उस समय आचार्यश्री की साधना कितनी विलक्षण रही होगी। मृत्यु भय से मुक्त साधक ही इतना निर्भय हो सकता है।

सल्लेखना रूपी औषध

यह घटना आचार्यश्री के यम सल्लेखना होने के दो माह पूर्व की है। कुंथलगिरि आते समय एक श्रावक ने महाराजश्री की पीठ पर 'दाद' रोग फैलते हुए देखा। उसने विनय भाव से कहा – " महाराज श्री ! आप इस दाद की दवाई क्यों नहीं करते?" महाराज मंद मुस्कान से बोले – "बहुत दवाई लगाई परन्तु रोग, मेरा (शरीर का) पिण्ड नहीं छोड़ रहा है। बस एक दवाई करना शेष है, उसे लगावेंगे तो यह रोग नष्ट हो जावेगा तथा शरीर भी रोग मुक्त हो जावेगा।

श्रावक ने प्रश्न किया – "लेकिन महाराजश्री ! यह दवा अभी क्यों नहीं लगा रहे हैं? दवा का नाम बतायें, मैं लाने का प्रयास करूँगा।"

"अभी तू वह दवा नहीं जानता।" मैं उसे लगाकर दो माह में शरीर नीरोग बना दूँगा। गम्भीर होकर आचार्यश्री कहने लगे।

यह शरीर हमें बहुत दिनों से परेशान करने लगा है। पहले दाँतों ने अनबन की, वे चले गये, फिर एक आँख ने तकरार की उसकी ज्योति चली गई और दूसरे की ज्योति हमें छोड़ने को बैठी है।

जीवन में गुलामी स्वीकार नहीं की। दवा करते-करते थक गये। अब तो समाधिमरण धारण करके नया शरीर ग्रहण करेंगे। उस समय ही आचार्यश्री की वाणी में यम-सल्लेखना के भाव प्रकट हो गये थे। शरीर के प्रति अद्भुत अनासक्ति।

पूजन का पर्व

कर्नाटक प्रान्त में जैनवाडी में आचार्यश्री के चातुर्मास की स्थापना हुई। महाराजश्री ने अनुभव किया कि यहाँ के जैन बन्धु मिथ्यात्व में आकण्ठ डूबे हैं।

आचार्यश्री ने अपने सम्यक्त्व की अपूर्व प्रवचनधारा से वहाँ के लोगों के हृदय परिवर्तन कर दिये और लोगों ने गुरु की वाणी में अटूट श्रद्धा व्यक्त करते हुए भूल का प्रायश्चित किया और साथ ही मिथ्यात्व का परित्याग कर अपने घरों से कुदेवों की मूतियों को गाड़ी में भरकर नदी में विसर्जन कर दिया।

स्थानीय राजा, आचार्यश्री के महान् पवित्र चारित्र से इतने प्रभावित थे कि वे प्राय: दर्शनार्थ उनके सान्निध्य में जाया करते थे परन्तु उन्हें देव मूर्तियों को इस प्रकार नदी में विसर्जित करना अच्छा नहीं लगा।

एक दिन वे आचार्यश्री के पास पहुँचे और अपने मनोभाव व्यक्त कर दिये। आचार्यश्री ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से राजा को प्रतिबोधित किया।

उन्होंने कहा – राजन्! क्या आप भाद्रपद में गणपति की स्थापना करते हैं? उनकी पूजन भक्ति आरती भी करते हैं और दस दिन के उत्सव के बाद अनंत चतुर्दशी के पावन दिवस पर आप क्या करते हैं?

राजा का उत्तर था उन्हें किसी नदी/तालाब/ झील में स्वच्छ पानी में विसर्जित (सिरा) कर देते हैं।

महराजश्री ने पूछा– "जिनकी आपने इतनी पूजा भक्ति की, उन्हें जल में क्यों डुबा देते हैं?"

क्योंकि उनका पर्व काल समाप्त हो गया – राजा का उत्तर था।

फिर इसके बाद किसकी पूजन करते हो? वही भगवान् राम, हुनमान आदि की। ऐसे ही जैन गुरु के आ जाने के बाद, उनकी पूजा का काम पूरा हो गया और उनको सिरा देना ही हमारा पुण्य कर्म (कर्त्तव्य) बन जाता है। हम सब तीर्थंकर /अरिहंतों का पूजन करते हैं। इस बात से राजा का संदेह दूर हो गया।

जैन मन्त्र की महिमा

जैनवाड़ी में एक ऐसा जैन भाई था, जो जैनेतर मन्त्रों से विष उतारने में निपुण था। जब आचार्य शान्तिसागरजी द्वारा श्री जिनेन्द्रदेव के अलावा सरागी देवी-देवताओं के उपासना का निषेध किया गया तो यह समस्या उपस्थित हुई यदि उस अमुक मन्त्र वेत्ता द्वारा मिथ्यात्व/सरागी देवों के मन्त्रों से काम करने की मनाही कर दी गई तो सार्वजनिक हित और प्राणरक्षा का लोकोपकार रुक जायेगा।

पूज्य महाराजश्री ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार किया और उस जैन मांत्रिक को बुलाकर उसे यह विश्वास/श्रद्धान उत्पन्न कराया कि जैन मन्त्रों में भी अचिन्त्य सामर्थ्य होती है।

आचार्यश्री ने एक मन्त्र देकर उसका विधिपूर्वक प्रयोग बताया और कहा कि - यदि यह मन्त्र दो माह के भीतर कार्य न करे तो मिथ्यात्व का त्याग तुम्हारे लिए बंधनकारक नहीं होगा। लेकिन तुम्हें दो माह के लिए मिथ्यात्व का त्याग करना होगा। ठीक उसी समय एक व्यक्ति उस जैन बंधु के पास दौड़ता हुआ आया और प्रार्थना करने लगा कि मेरे बैल को सर्प ने काट लिया, चलकर उसकी रक्षा करें। मन्त्र साधक पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करता हुआ वहाँ गया और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त जैन मन्त्र का प्रयोग करते हुए बैल का विष झाड़ने लगा। मन्त्र साधक को बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ कि बैल की विष बाधा तत्काल दूर हो गई। वह मन्त्र साधक पुनः महाराजश्री के पास आया और विनतभाव से कहने लगा- महाराज श्री! जैन मन्त्रों का अतिशय प्रभाव है। उस बैल का विष तत्क्षण दूर हो गया।

" मैं जीवन भर मिथ्यात्व के त्याग का नियम लेता हूँ।"

ध्यान में लीनता

एक घटना कोन्नूर के जंगल में महाराजश्री के साथ घटित हुई। वे धूप में पद्मासन में स्थित हो सामायिक में लीन थे। कहीं से एक बड़ा मकोड़ा उनके निकट आया और उनकी पुरुष इन्द्रिय से चिपटकर काटने लगा। वह मकोड़ा पुरुष इन्द्रिय से रक्तपान करने लगा, जिससे वहाँ रक्तस्राव होने लगा। महाराजश्री लगभग डेढ़ घण्टे तक अविचल ध्यानारूढ़ रहे और मकोड़ा द्वारा उत्पन्न पीड़ा से बेखबर वे आत्मलीन रहे। ब्र. बंडोवा बाबाजी ने निकट बैठे श्रावक नेमण्णा (जो पूज्य आचार्यश्री नेमिसागर के रूप में विश्रुत हुए) की ओर इशारा करते हुए कहा – देखिए नेमण्णा जी।

यह रक्त बह रहा है। आचार्यश्री का ध्यान पूर्ण होने पर नेमण्णा ने उनसे कहा–यह क्या है महाराज श्री? रक्त का स्राव कहाँ से हो रहा है?

महाराज श्री बोले–मैं तो सामायिक में बैठ गया। मुझे पता नहीं फिर क्या हुआ?

आचार्यश्री के शब्द सुनकर नेमण्णा को बड़ा वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने कहा – क्या यह चमत्कार है? यह साधु हैं या कोई भगवान्? निश्चय ही यह एक महान् आत्मा है।

संस्मरण : आचार्यश्री

प्रवचन के उपरान्त आचार्य गुरुदेव चौक मंदिर की ओर विहार करते हुए आ रहे थे तभी किसी श्रावक ने आचार्य श्री जी के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए नारा लगाया – "चतुर्थ काल की आत्मा काया पंचम काल की"

यह सुनकर आचार्य गुरुदेव ने लघुता प्रदर्शित करते हुए कहा कि – भैया चतुर्थ काल की आत्मा नहीं अनंतकाल की आत्मा कहो, अनंत काल की। अनंत काल से यह आत्मा संसार में रह रही है।

समता भाव

घटना राजाखेड़ा (३० जनवरी, १९३०) की है - आचार्यश्री शान्तिसागरजी ससंघ वहाँ पहुँच गये। राजाखेड़ा के श्रावकजनों के हर्ष का पारावार न रहा, क्योंकि प्रथम बार उन्होंने ऐसे दुर्लभ आत्मध्यानी दिगम्बर आचार्य के दर्शन किए थे। प्रवचन और धर्म प्रभावना के निमित्त मंदिर के पास एक विशाल सभामण्डप का निर्माण कर दिया गया था, जहाँ तीन दिन तक आचार्यश्री ने ससंघ संयम/धर्म का प्रसाद बाँटकर जैनधर्म की अतिशय प्रभावना की। इस प्रभावना से कुछ विधर्मी पापी लोग ईर्ष्या से जल उठे। वे नग्नमुद्रा को हेयदृष्टि से देख रहे थे। उन्होंने गुप्त रूप से आचार्य संघ पर आक्रमण करने का षड्यंत्र रचा। षड्यंत्र की अदृश्य भाव तरंगें, आचार्यश्री को उद्वेलित कर गई और उन्होंने चौथे दिन राजाखेड़ा से अन्यत्र विहार करने की सोची, किन्तु इसी बीच बाहर से अनेक विद्वत्‌जन पधार चुके थे, जिन्होंने आचार्यश्री से रुकने की साग्रह प्रार्थना की आचार्यश्री विद्वानों के प्रति वात्सल्य रखने से रुक गये। पाँचवे दिन की घटना कल्पनातीत हुई। चार-पाँच सौ उपद्रवकारियों का झुण्ड संगठित होकर मंदिर की ओर आ रहा था। संघ पर आक्रमण करने की खोटी भावना से कुछ लोगों के हाथों में तलवारें तथा अन्य हथियार थे। वे उस चबूतरे की ओर तीव्र गति से बढ़े आ रहे थे, जहाँ प्रतिदिन साधु संघ बैठकर सामायिक किया करते थे। परन्तु यह संयोग कहिए कि आचार्यश्री ने उस दिन आदेशित कर दिया था कि सामायिक भीतर बैठकर ही करें।

आक्रमणकारियों ने देखा कि आज बाहर चबूतरे पर कोई साधुजन नहीं है, उनका साहस मंदिर के अंदर जाने का नहीं हो पाया और वे श्रावकों के घर की ओर बढ़ गये। उन आततायियों का मुखिया छिद्दी ब्राह्मण उनके साथ आगे बढ़ता हुआ विवेक और ज्ञान से शून्य बन गया था। उपद्रवकारियों ने कुछ श्रावकों पर हमला बोल दिया। श्रावकों को

इस अप्रत्याशित घटना का अन्दाज लगाते देर नहीं लगी। उन्होंने देखा कि कुछ धर्म विद्वेषी लोग मुनिजनों पर आक्रमण करने के लिए आतुर अब हमारी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। उन्होंने येन-केन प्रकारेण उसका प्रतिरोध किया और शक्ति व साहस से मुकाबला किया।

सभी श्रावक अपने गुरुजनों मुनिवृन्दों की रक्षा के लिए एकजुट हो गए और प्राणों की परवाह किए बिना उन आतताईयों का सामना किया, भले ही कुछ अंग-भंग भी हुए। बिजली की भाँति इस उपद्रव घटना की खबर रियासत को मिल गई और उन नर-पिशाचों को रोकने के लिए दोपहर बाद रियासत की सेना राजाखेड़ा में आ गई।

साधु संघ ने उस समय, अद्भुत संयम का परिचय दिया।

पुलिस के अधिकारीगण आचार्यश्री के पास आये और उनके दर्शन कर वे इतने प्रभावित हुए कि आतंककारियों के दुष्कृत्यों पर कड़ी सजा देने की बात आचार्यश्री के सामने कहने लगे। तभी आचार्यश्री ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक आप छिद्दी ब्राह्मण को हिरासत से नहीं छोड़ेंगे, तब तक हम आहार ग्रहण नहीं करेंगे।

एक ओर छिद्दी ब्राह्मण वे उनके साथी खून के प्यासे होकर संघ पर विपत्ति के बादल बनकर बरस रहे थे और दूसरी ओर उन करुणाशील दयावन्त आचार्यश्री क़ी इस प्रतिज्ञा को सुनकर पुलिस अधिकारी आश्चर्यचकित हुए कि ऐसा महान् संत उन्होंने अपने जीवन में पहली बार देखा है।

महाव्रती का नमन

कुंभोज (बाहुबली) में आचार्य श्री शान्तिसागरजी का वर्षायोग चल रहा था। उस समय मुम्बई निवासी एक धर्मात्मा पुण्यवान सेठ पूनमचंद घासीलालजी जौहरी की भावना हुई कि आचार्यश्री के पूर्ण संघ को पूर्ण वैभव और श्रमणोचित मर्यादा के साथ पावन तीर्थ श्री सम्मेदशिखरजी वन्दनार्थ ले जाऊँ।

सेठ साहब अपनी यह भावना आचार्यश्री से एक-दो बार पूर्व में भी प्रकट कर चुके थे, परन्तु सुयोग और गुरु आज्ञा प्राप्त न हो पाने से वह भावना पूर्ण नहीं हो पा रही थी। इस बार आचार्यश्री ने सेठ साहब के अन्तःकरण की निर्मल भावना को जानकर अपनी स्वीकृति दे दी।

कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा, वीर निर्वाण संवत् 2453 (सन् 1927) के मंगल दिवस पर हर्षप्रद समाचार समाज की जानकारी में आ गया और अष्टाह्निका पर्व समापन के साथ ही संघ ने आचार्यश्री के सन्निधि में बिहार प्रान्त की ओर विहार करने का निश्चय कर लिया।

तत्कालीन उत्तर भारत में दिगम्बर साधुओं का प्रवेश कई सौ वर्षों से नहीं हुआ था क्योंकि वह मुसलिम बहुल क्षेत्र था। एक दिन की बात है कि वयोवृद्ध पंडितजी आचार्यश्री के समीप आये और उन्होंने संघ को श्रद्धावनत हो बहुत ममत्व भाव से आचार्यश्री से निवेदन किया गुरुवर्य। उत्तरभारत की जनता खोटी एवं वक्र प्रकृति की है। हमारे जीवन में, मैंने कभी दिगम्बर मुनियों का उस क्षेत्र में विहार होते हुए नहीं देखा। जब संघ उस क्षेत्र में प्रवेश करेगा तो ऐसी आशंका है कि विधर्मी और विद्वेषीजन संघ पर विघ्न उपस्थित करेंगे।

तत्कालीन श्रावकजनों का मनोबल राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर गौरवशाली नहीं था। अतः उन वृद्ध पण्डितजी ने यह सुझाव दिया कि आप किसी देवता को सिद्ध कर लें, जो संघ की रक्षा में सहयोगी

बनता हुआ आपके साथ चले।

महाराजश्री ने वयोवृद्ध विद्वान् की बात को शान्तभाव से सुनकर एक प्रश्न किया – आप इतने विद्वान हैं, परन्तु क्या आपका मिथ्यात्व समाप्त नहीं हुआ? अन्यथा आप हमें आगम के विरुद्ध कोई ऐसी सलाह नहीं देते।

पण्डितजी ने आचार्यश्री का यह भाव पूरी तरह से समझ नहीं पाया और विनम्र भाव से इसको और अधिक स्पष्ट करने की प्रार्थना की।

आचार्यश्री ने पुनः एक प्रश्न किया – क्या व्रती या महाव्रती किसी अव्रती के लिए नमस्कार करेगा? पण्डितजी ने कहा – नहीं, महाराजश्री! व्रती किसी अव्रती को नमस्कार कैसे कर सकता है? महाराजश्री बोले – किसी विद्या या देवता को सिद्ध करने के लिए उसे नमस्कार करना आवश्यक है। अव्रती के लिए नमस्कार करना, अपने व्रत में दोष लगाना है।

पण्डितजी इस युक्तिवाद को सुनकर चुप हो गए। आचार्यश्री उनकी गंभीरता को देखकर बहुत आश्वस्त होकर बोले–इसमें डरने की क्या बात है? हमारा पञ्चपरमेष्ठी पर गहरा विश्वास है। उनके प्रसाद से हमें कोई विध्न/बाधा नहीं होगी और कदचित् हम लोगों के असाताकर्म के तीव्र उदय से ऐसी कोई अप्रत्याशित आपत्ति सामने आयेगी तो उसे हमें एवं हमारा संघ सहन करने को तैयार है।

आचार्यश्री के अदम्य साहस और आत्मविश्वास के सामने उन वात्सल्य हृदयी पण्डितजी की आशंकायें निर्मल साबित हो गई। उनका हृदय परिवर्तन हो गया। उनके भीतर से आवाज निकली, प्रभो! आप उत्तर की भूमि में धर्म की धारा प्रवाहित करने के लिए भव्य जीवों का उपकार करें और तीर्थ दर्शन की पावन पीयूष भावना के सम्बल से यह यात्रा प्रारम्भ करें।

8

बन्ध और मुक्ति

यह प्राणी दासता के बन्धन को स्वयं आमंत्रित करता है। कोई दूसरा बन्धन के लिए उत्तरदायी नहीं है। अपने भावों से वह संसार का सृजन करता है और अपने ही भावों से संसार की बेड़ियाँ काटता है।

एक बहेलिया तोता को पिंजरे में बंद किये बाजार में बेचने के लिए लाया। मैंने इस बहेलिया से कहा-" इसे पिंजरे में क्यों बांधा है।" बहेलिया बोला-" श्रीमान्। यह बन्धन इसने स्वयं स्वीकार किया है।" मैंने प्रश्न किया-कैसे?

बहेलिया कहने लगा- इसके दो पंख हैं, जिससे यह उन्मुक्त हो आकाश में उड़ सकता है, परन्तु दाने के लोभ में यह रस्सी को अपने पंजों से जकड़ लेता है। रस्सी उसे नहीं पकड़ती है।

ठीक इसी प्रकार जीव को कोई बाँध नहीं सकता। यह अपने रागात्मक अनुबंधों से मोह की अदृश्य रस्सी से बंधने में सुख की परिभाषा मान बैठा है।

आचार्यश्री शान्तिसागरजी ने बंध और मुक्ति को एक रूपक कथा के द्वारा समझाया था।

चार मित्र देशाटन को निकले। चारों मित्र अपने विषय और वास्तु में निपुण थे। वे एक घने जंगल से गुजर रहे थे रात्रि का समय हो

जाने से उन्होंने वहीं विश्राम करने का सोचा। सलाह हुई कि तीन-तीन घण्टे सभी एक-एक करके जागरण करेंगे और सामान की देखभाल के साथ ही वन्य प्राणियों से सचेत रहेंगे। पहला मित्र काष्ठ कर्म में निष्णात था। अनजान लकड़ी को आकार दे देना उसकी कला की विशिष्टता थी। सोचने लगा अकेले तीन घण्टे कैसे व्यतीत करूँगा। जंगल में एक सूखी लकड़ी का भाग दिखाई दिया। उसने अपनी शिल्प कला का हुनर भी देखना चाहा कि क्या वह तीन घण्टे में इसे शेर का आकार दे सकता है?

कौतूहल और कला का संगम हुआ। उसने सोचा कि शेर का बुत बनाकर शिलाखण्ड पर रख देंगे तो अन्य वन्य प्राणी यहाँ नहीं आयेंगे।

काष्ठ ने शेर का आकार ले लिया।

दूसरे मित्र के जागरण की बेला आई। वह चित्रकला और रंगकर्म में निपुण था। उसने देखा, पहले मित्र ने काष्ठ को शेर का आकार दिया। मैं रंगों से उसके अंग प्रत्यंग को अभिव्यक्ति दूँगा। तीन घण्टे के समय का उपयोग भी हो जायेगा। उसने रंगों से शेर को असली शेर जैसा रूप दे दिया।

तीसरा मित्र मन्त्र वेत्ता और विद्वान् था। मन्त्र की सहायता से वह जड़ में चेतन का संचार कर सकता था। तीसरे मित्र ने दो मित्रों की कला देखी और अपने मन्त्रों की परीक्षा के लिए उसने उसे साकार/रूप में प्राण का संचार करने की सोची। मन्त्रों का प्रभाव है कि वह जड़ शेर क्रियाशील होने लगा। उसमें हलन-चलन होते देख वह समीपस्थ वृक्ष पर चढ़ गया तथा अपने तीन साथियों को भी वृक्ष पर चढ़ने के लिए पुकारने लगा। तब तक शेर अपने रौद्र रूप में आ चुका था।

चौथा मित्र तांत्रिक और बुद्धिमान् था। उसने सोचा इस संकट को हमारे तीन मित्रों ने स्वयं बुलाया है और अब प्राण रक्षा के लिए पेड़ पर चढ़ गये हैं।

तांत्रिक को यह जानते देर नहीं लगी कि तीसरे साथी के मन्त्र के प्रभाव से यह उछल-कूद कर रहा है। उसने अपने तीसरे मित्र से कहा- "अब डर क्यों रहे हो? तुमने ही अपने मन्त्र के प्रभाव से उसे काष्ठ के शरीर में यह प्राण प्रतिष्ठा की है। जिस मन्त्र से प्राण संचार किये, उस मन्त्र का प्रतिकार मन्त्र भी तुम जानते होगे। तुम अपनी शक्ति को वापस खींच लो वह शेर पुनः जड़ रूप बन जायेगा।"

मन्त्र की शक्ति ने संकट को उपस्थित किया है। मन्त्र ही इस पर काबू पा सकता है। तांत्रिक की बातें सुनकर मांत्रिक मित्र का विवेक

जागृत हुआ। उसने तत्काल प्रतिकार मन्त्र का परीक्षण किया और वह रौद्र रूप व्याघ्र जड़ रूप हो गया।

दृष्टान्त के रहस्य को जानें। जीव अपने रागद्वेष द्वारा संकट रूप शेर के शरीर में प्राण प्रतिष्ठा करता है। लेकिन वह चाहे तो अपने राग-द्वेष परिणामों को दूर करके कर्मरूपी शेर को समाप्त कर सकता है। राग-द्वेष के नष्ट होने पर कर्म जड़ रूप ही हैं, हमारा कोई बिगाड़ नहीं कर सकते। मुक्ति का मन्त्र भी हमारे विवेक, पुरुषार्थ और संयम साधना पर निर्भर है। बंधन और मुक्ति के मन्त्र के स्वामी हम हैं। कोई अन्य हमें बाँध नहीं सकता है और न मुक्ति दिला सकता है।

अपराधी जेल/कारागृह का बंधन स्वयं निमंत्रित करता है। कारागृह अपना घर नहीं है। सुविधापूर्ण कारागृह से भी व्यक्ति छूटना चाहता है। परन्तु सजा की अवधि उसे वहाँ काटनी होती है। संसार कारागृह में, जीव आयुकर्म की अवधि तक को रहने को बाध्य है। परन्तु अपराधी भी सदाचरण से सजा की अवधि को कम करा लेता है। वह जल्दी छूट जाता है। बंधन को स्वभाव न मानें। बंधन सुविधामय हो सकता है, परन्तु शान्ति का सोपान और सुख वहाँ अनुपस्थित रहता है।

मुक्ति असीम होती है। मुक्ति आकाश को भी बाँहों में भर लेती है। मुक्ति का सुख, मुक्ति की अमरता, मुक्त जीव ही अनुभव कर पाता है।

जैन साधु

हिन्दु भक्त आचार्यश्री के पास आया और भोले मन से अपनी पूर्व धारणा वश कहने लगा–"स्वामी जी! एक प्रार्थना अर्ज करूँ।"

भक्त बोला –" भगवन्! थोड़ा –सा गाँजा मंगवा देता हूँ। उसको पीने से आपका मन चंगा हो जायेगा।"

महाराजश्री ने जान लिया कि इसे जैन साधु की क्रिया और संयम का ज्ञान नहीं है और न ही कभी इसने जैन साधु को देखा है। अज्ञानता एवं प्रेमवश ऐसा कह रहा है। अतः महाराजश्री ने बहुत शान्तभाव से कहा – "हमारा मन सदा चंगा ही रहता है। हम साधुजन गाँजा नहीं पीते।" वह भक्त साश्चर्य बोला–"महाराज! सब साधु पीते हैं आप क्यों नहीं पीते।"

आचार्यश्री ने उसे समझाया –"ये मादक पदार्थ कहलाते हैं। इनके सेवन से भावों में मलिनता उत्पन्न होती है तथा इससे बड़ा पाप लगता है। सच्चे साधु की बात ही दूसरी है। इसे तो साधारण मनुष्य को भी नहीं लेना चाहिए।

आचार्यश्री के समझाने से उस भक्त ने समझ लिया कि ये महाराज, उन साधुओं से अलग हैं, जिन्हें अभी तक हमने देखा और जाना था। ये तो कोई महान् तपस्वी और विशिष्ट साधु पुरुष हैं।

उस भक्त की भक्ति और उमड़ी। बहुत आत्मीय प्रेम से वह बोला "महाराज! थोड़ी मिठाई ला देता हूँ, उसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।"

आचार्यश्री उसे पुनः समझाने लगे– "भक्त! हम साधुओं के भोजन करने का बहुत कठिन नियम होता है। तुम जैसा तैसा भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।" महाराज ने उसकी निष्कपट भक्ति से यह जान लिया कि यह भव्य जीव है। अतः बहुत सरल भावों से उपदेश देने लगे। उस भक्त की स्त्री भी साथ में थी। स्त्री ने सारी जिन्दगी के लिए अनछने जल का त्याग किया, जबकि पुरुष ने परस्त्री त्याग का व्रत लिया।

आध्यात्मिक प्रभाव

आचार्यश्री का संघ श्री शिखरजी की तीर्थ वंदना करके १९२८ में विन्ध्य प्रदेश की ओर लौट रहा था। विंध्याटवी का घनघोर जंगल चारों ओर था। संघ ऐसी जगह पहुँचा, जहाँ आहार बनाने का समय हो चुका था।

उस स्थान पर वानर सेना का स्वच्छन्द शासन था। ऐसा कोई स्थान नहीं था, जहाँ वानरों से बचकर भोजन तैयार किया जा सके और संघ को यथायोग्य आहार विधि से आहार करवाया जा सके। संघपति सेठ गेंदनमलजी जवेरी के सामने एक बहुत बड़ा धर्मसंकट उपस्थित हो गया, क्योंकि फिर इस स्थान से 14 मील दूर ही ठहरने योग्य स्थान था। लेकिन समय नहीं था कि वहाँ पहुँचा जा सके।

संघपति चिन्तातुर होकर आचार्यश्री के पास पहुँचे और निवेदन किया–"महाराज श्री! यहाँ तो वानरों का बड़ा उपद्रव है। हम लोग किस प्रकार आहारादि की व्यवस्था करें?"

महाराजश्री ने स्मित भाव से कहा–"तुम लोग शीरा पूड़ी उड़ाते हो। बन्दरों को भी शीरा पूड़ी खिलाओ।" इतना कहकर वे चुप हो गए। उनके चेहरे पर एक निष्काम मुस्कान खिल रही थी।

संघ के श्रावकों ने बड़े यत्नपूर्वक सुरक्षा करते हुए बड़ी कठिनाई से रसोई तैयार की। लेकिन लोग शंकित थे कि कहीं ऐसा न हो कि कोई बन्दर महाराजश्री के हाथों से आहार का ग्रास लेकर भाग जाये। ऐसी स्थिति में आचार्यश्री को अंतराय उपस्थित हो जायेगा।

कोई समाधान श्रावकों को नहीं सूझ रहा था। धीरे-धीरे चर्या का समय आया। महाराजश्री ने शुद्धि की और जैसे ही चर्या के लिए निकले कि सैकड़ो बन्दर अपने आप अप्रत्याशित रूप से शान्त हो गए। लोगों को सुखद आश्चर्य हो रहा था कि कुछ क्षणों में बन्दरों में यह कैसा परिवर्तन

हो गया है।

आचार्यश्री का आहार निर्विघ्न समाप्त हुआ। इधर आचार्यश्री आहार करके लौटे और पुनः बन्दरों का उपद्रव शुरू हो गया। आखिर उनसे कैसे निपटा जावे। श्रावक जनों ने बन्दरों को रोटियाँ खिलाना शुरू किया। एक ओर बन्दरों को रोटियाँ डालते जाते थे तो दूसरी ओर वे स्वयं भोजन पानी लेते जा रहे थे।

आत्म विकास का यह अचिन्त्य प्रभाव पहली बार देखने को मिला कि वानर भी अपनी चंचलता को भूलकर महाराजश्री की आहार विधि को चुपचाप देखते रहे, जैसे किसी ने उन्हें मन्त्र कीलित कर दिया हो।

संस्मरण : आचार्यश्री

किसी साधक ने आचार्य श्री जी से शंका व्यक्त करते हुए कहा कि- यदि कोई व्यक्ति वीतरागी देव के सामने कुछ मांगता है तो क्या वह भी देव-मूढ़ता में आता है? तब आचार्य श्री जी ने शंका का समाधान करते हुए कहा कि- नहीं, वह मूढ़ता नहीं कहलाएगी, वह एक प्रकार से अज्ञानता कहलाएगी। क्योंकि वीतरागी प्रभु राग-द्वेष रहित होते हैं। अतः न वे किसी से कुछ लेते हैं और न किसी को कुछ देते हैं। लेकिन मांगने वाला वीतरागी प्रभु के सही स्वरूप को नहीं समझ पा रहा है लेकिन समझने के निकटतम है। एक न एक दिन वह अवश्य समझ जाएगा। सच्चे देव की सच्ची पहचान न कर पाना अज्ञानता ही है।

ललितपुर में आचार्य वर्षायोग

सन् 1929 में आचार्य श्री शान्तिसागरजी का चातुर्मास, कटनी के पश्चात् ललितपुर (क्षेत्रपालजी) में हुआ।
आचार्यश्री शान्तिसागरजी लोकोत्तर व्यक्तित्त्व के धनी थे। महान् तपस्वी और आगम को अक्षरश: जीवन में उतारने वाले परम योगी थे।

ललितपुर आने पर आचार्यश्री ने सिंहनिष्क्रीड़ित तप किया था, जो इस विषमकाल में बहुत कठिन व्रत था।

इस उग्र तप से आचार्यश्री का शरीर बहुत कमजोर हो गया था। उसी समय आचार्यश्री को ज्वर का प्रकोप सताने लगा। 104 - 105 ज्वर में उपवास की साधना, एक बूँद जल ग्रहण नहीं करना और 15-15 दिन लगातार उपवास करना कल्पनातीत लगता था। आचार्यश्री ने एक जगह लिखा था-''जो जीव अज्ञान से अत्यन्त भीषण पाप कर्म का बंध करता है, वह उपवास से उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे अग्नि के द्वारा ईंधन भस्म हो जाता है।'' उपवास करते हुए उनकी धार्मिक क्रियाओं में जरा भी कमी या प्रमत्त भाव नहीं आ पाता था।

तिलोयपण्णति में लिखा है -''भरतक्षेत्र में बहुत काल तक वैराग्य की भावना करके संयम से युक्त मुनिराज लौकान्तिक देव होते हैं। सम्यक्त्व युक्त श्रमण जो निन्दा और स्तुति में, सुख-दु:ख में तथा लाभ-अलाभ में समदृष्टिधारी हैं, वे लौकान्तिक देव होते हैं।''

आचार्यश्री की आध्यात्मिक दृष्टि इतनी पारगामी एवं उज्ज्वल हो चुकी थी कि वे देह और उसके विषय से पूर्णत: निरपेक्ष, निरवद्य और निर्द्वन्द्व बन चुके थे। अस्तु ऐसे श्रमण लौकान्तिक देव होते हैं। लम्बे उपवासों के विषय में विद्वत् रत्न पं. सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर ने उनसे चर्चा की तो उन्होंने यही कहा था-''मंगलं शरणो महावीरो'' मेरे लिए भगवान् महावीर प्रभु ही एक मात्र शरण हैं।

पण्डितजी ने पूछा -"ऐसे लम्बे उपवासों के समय आपकी निद्रा का क्या हाल रहता है?" महाराजश्री का उत्तर था -"नींद नाम मात्र को आती है। उस समय हम आत्मा का चिन्तन्/ध्यान करते हैं। पदार्थों की ओर चित्त स्वयं नहीं जाता है।" जो शरीर से निर्ममत्व हो जाते हैं, वे ही लम्बे उपवासों की साधना कर पाते हैं। यही कारण था कि भयंकर ज्वर में भी आचार्यश्री का मुखमण्डल अपूर्व आभा और तेजोमय दीप्ति से युक्त रहता था।

जितेन्द्रिय में अद्‌भुत शक्ति विद्यमान रहती है।

आहार त्याग देने से मन बाह्य विषयों की ओर नहीं जाता। वह समग्र रूप से आत्म नियंत्रण में रहता है, जिससे आत्म चिन्तन में एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होने लगती है। उपवास की अग्नि में बड़े पाप भी भस्म हो जाते हैं।

संस्मरण : आचार्यश्री

किसी सज्जन ने आचार्य श्री के समक्ष शंका रखते हुए कहा कि - आचार्य श्री जी सम्यक्‌दृष्टि के लिए ऐसा कोई मंत्र बताएँ ताकि वह गृहस्थी में रहते हुए भी कर्मबंध से बच सके। तब गुरुदेव ने शंका का समाधान करते हुए कहा कि सम्यक्‌दृष्टि को चार संज्ञाओं (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह) के वशीभूत नहीं होना चाहिए। तीन अशुभ (कृष्ण, नील और कापोत) लेश्याओं में नहीं जाना चाहिए। इंद्रियों के विषयों से बचना, आर्त्त-रौद्र ध्यान से बचना चाहिए एवं ज्ञान का दुरूपयोग नहीं करना चाहिए। बस यही मंत्र है। ज्ञान के दुरूपयोग का अर्थ है अभिमान नहीं करना एवं ख्याति लाभ-पूजा आदि की चाह नहीं करना। धर्मोपदेश देते समय बदले में पैसों की चाह नहीं रखना चाहिए।

शंका-समाधान

एक दिन भद्र स्वभाव वाला अंग्रेज आचार्यश्री के दर्शन करने आया। उसने आचार्यश्री से प्रश्न किया-"महाराज! आपने संसार क्यों छोड़ा? क्या संसार में रहकर शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती?" महाराज ने समझाया-पदार्थों के प्रति आसक्ति ही संसार है। जितनी मन में आसक्ति होती है, उतना परिग्रह (पदार्थों का समुच्चय) हमारे पास निर्मित हो जाता है। इस परिग्रह के द्वारा ही मन में चंचलता तथा राग-द्वेष रूपी भाव (विकार भाव) उठते हैं। जैसे हवा के चलने से दीपक की लौ अस्थिर बनी रहती है। उसी प्रकार रागद्वेष की भाव तरंगों के द्वारा मन अशान्त बना रहता है। इन्हें छोड़ने पर ही मन शान्त हो सकता है। मन की शान्ति से आत्मा शान्त हो जाती है। यह मानसिक शान्ति निर्मल और पवित्र जीवन से प्राप्त होती है। आसक्ति से मन मलिन बनता है और मलिन मन ही पाप का संचय करता है। संसार के परिग्रह के साथ आत्मा की साधना निर्विघ्न नहीं हो सकती। इसके लिए विषय भोगों का त्याग आवश्यक है।

आचार्यश्री की ऐसी मार्मिक अनुभवपूर्ण वाणी सुनकर अंग्रेज अत्यन्त हर्षित हो नतमस्तक हो गया।

एक दिन उन्होंने दर्शनार्थ आये मुस्लिम भाईयों से कहा-"भाई! जीवों की दया पालने से व्यक्ति सुखी होता है और उन्हें मारकर खाने से वह अत्यन्त दुःखी होता है।" इस करुणामयी वाणी को सुनकर बहुत से मुसलमानों ने माँस के सेवन का त्याग कर दिया।

इसी प्रकार अलवर में एक ब्राह्मण प्रोफेसर ने बड़ी ही भक्ति पूर्वक यह शंका की कि महाराज! क्या दुग्धपान मूत्रपान के समान नहीं है?

महाराज ने बड़े शान्त भाव से कहा-"गाय के पेट में दूध का कोठा तथा मल-मूत्र का कोठा अलग-अलग है। दूध में रक्त या माँस का

सम्बन्ध नहीं है।''

महाराजश्री ने प्रोफेसर साहब से एक प्रति प्रश्न किया-''क्या आप गंगाजल पीते हैं?'' प्रोफेसर ने स्वीकारोक्ति की।

महाराजश्री ने कहा-''नदी में मछली तथा अन्य जलीय जीवजन्तु होते हैं, जिनका मलमूत्र उसी जल में मिश्रित होता जाता है। फिर भी आप उसे पवित्र मानकर पीते हो, जबकि दूध के कोष और मूत्र के कोष पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक जैसा मानते हैं, यह कहाँ का न्याय है?''

यह सुनकर आगन्तुक विद्वान् मौन हो गए और संदेह का शल्य उनके मन में निकल गया।

महाराजश्री ने आगे कहा-''गाय या भैंस में उसके बच्चे की आवश्यकता से अधिक दूध होता है। अतः इस भ्रान्ति को दूर कर लेना चाहिए कि इस पर बच्चे का अधिकार ही है।''

एक ने शंका व्यक्त की -''महाराज! क्या केशलोंच से शरीर को कष्ट का अनुभव नहीं होता?

महाराजश्री ने कहा-''हाँ! होता है, जब तक शरीर में एकत्व बुद्वि बनी रहती है।'' ''तो क्या भेद बुद्धि हो जाने से यह कष्ट दूर हो जाता है?'' महाराजश्री ने कहा -''हाँ! क्या चूल्हे में लकड़ी जलाने से तुम्हारा शरीर जलता है?

शंकाकार ने कहा - नहीं जलता।''

''ठीक इसी प्रकार शरीर को पीड़ा होने पर आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता है। साधुको शीत और ग्रीष्म ऋतु में क्रमशः शीत और उष्णता का अनुभव भी होता है परन्तु वह दुःखी नहीं होता है। शान्त भाव से उसको सहने की क्षमता अपने आत्मबल से पैदा कर लेता है।''

8

मन को दण्ड

घटना नसलापुर की है। उस समय आचार्यश्री मुनि अवस्था में वहाँ विराजमान थे, मुनिराज आदिसागर शेडवाल उस समय गृहस्थावस्था में श्री बालगौड़ा देवगौड़ा पाटील के नाम से विश्रुत अत्यन्त धर्मपरायण एवं मुनिभक्त श्रावक थे।

अपने कुछ मित्रों के साथ वे चिक्कोड़ी (बेलगाँव) से मुनिराज शान्तिसागरजी के दर्शनार्थ गए और प्रार्थना की। हे स्वामिन्! हम सभी गृहस्थ जनों को परोक्ष में भी इस दिगम्बर मुद्रा के दर्शन लाभ का पुण्य प्राप्त होता रहे, अस्तु आप फोटो खिंचवाने की स्वीकृति प्रदान करें।

फोटोग्राफर बुलाया गया। उस समय फोटो खिंचवाना एक विशेष बात हुआ करती थी।

फोटोग्राफर महाराज के पास आया और महाराजश्री से बोला– "महाराज! अच्छी फोटो के लिए यह स्थान ठीक नहीं है। दूसरा अच्छा स्थान है वहाँ चलने की कृपा करें।" महाराजश्री एक बार स्वीकृति देकर वचनबद्ध हो चुके थे। उन्होंने फोटोग्राफर के संकेतानुसार कार्य किया। जिस प्रकार खड़े रहने को उसने कहा उस स्थिति में महाराज श्री ने फोटो खिंचवा ली।

परन्तु इसके बाद एक विचित्र बात हुई।

महाराजश्री कई वर्षों से आहार में केवल जल, चावल और दूध ही ले रहे थे। अपनी फोटो खिंचवाने की मनोवृत्ति को स्वयं को शिक्षा देने हेतु उन्होंने एक सप्ताह के लिए दूध का त्याग कर दिया और दूसरे दिन आहार में केवल चावल और जल ही ग्रहण किया।

महाराज ने बताया कि, हमारे मन ने फोटो खिंचवाने की स्वीकृति दे दी थी, जिससे हमें अनेक प्रकार की पराधीनता का अनुभव

हुआ और फोटोग्राफर के अनुकूल हमें कार्य करना पड़ा। अस्तु अपनी भूल का प्रायश्चित करने हेतु और मन पुनः ऐसी बातों के लिए उत्साहित न हो इसलिए मैंने दूध का त्याग कर दिया है।

जब नसलापुर चातुर्मास में मुनिराज से चर्चा के समय यह प्रार्थना गृहस्थों ने भी की, कि महाराज आप केवल दूध एवं चावल ही क्यों लेते हैं। क्या अन्नाहार या अन्य पदार्थ ग्रहण करने योग्य नहीं है? महाराज ने स्मित भाव से कहा–गृहस्थ आहार में जो वस्तु देता है, वह ग्रहण कर लेते हैं। तुम लोग अन्य पदार्थ देते नहीं अस्तु हमारे लेने की बात उठती ही नहीं।

दूसरे दिन आहारचर्या में श्रावक मुनिराज को दाल–रोटी और हरी सब्जी उनके कर–पात्र में देने को ज्यों ही उद्यत हुए, अंजुलि बंद कर ली। आहार के पश्चात् लोगों ने पुनः निवेदन किया–महाराज। आपने तो पूर्ववत् आहार ग्रहण किया है। रोटी आदि ग्रहण नहीं की।

महाराज ने पूछा –"आपने आटा कब पीसा था, कैसा पीसा था।"

ज्ञात हुआ – आटा रात्रि में पीसा गया था।

मुनिराजों को ऐसा आहार न देना चाहिए और न मुनि को लेना चाहिए।

पन्द्रह दिनों तक श्रावकों को आहार योग्य वस्तुओं को विधान बताया, तब जाकर उन्होंने अन्य शुद्ध भोज्य पदार्थों का लेना प्रारम्भ किया और आठ दस–वर्ष से दूध और चावल लेने का क्रम यहाँ बन्द कर दिया।

भावों का प्रभाव

एक ग्राम में एक गरीब श्रावक को तीव्र अभिलाषा थी कि मैं भी आहार दूँ। परन्तु अपनी दरिद्रता के कारण वह आहार के लिए चौका लगाने का साहस नहीं कर पाया।

समय की होनहारता देखिए कि एक दिन उसने जो भी कुछ घर में था, उससे ही आचार्यश्री को आहार दान देने के भाव से प्रासुक भोजन तैयार किया और पड़गाहन के लिए द्वार पर खड़ा हो गया। भावों का चुम्बकीय प्रभाव यह हुआ कि आचार्यश्री को उस दिन उसी के यहाँ आहार योग्य विधि मिल गई।

आचार्यश्री के चरणों से घर पवित्र बन गया ऐसा भाव करता वह श्रावक बहुत प्रसन्न हुआ परन्तु यह सोचकर कुछ उदास हो गया कि आहार के योग्य केवल चार ज्वार की रोटियाँ चौके में हैं।

आचार्यश्री बहुत विवेकशील/करुणाशील/संवेदनशील हृदय वाले लोकोत्तर सन्त थे। उन्होंने विचार किया कि यदि हम चारों रोटियाँ ग्रहण कर लेंगे, तो यह गरीब क्या खायेगा? अत: आचार्यश्री ने थोड़ी सी भाकरी, थोड़ी दाल और चावल मात्र लेकर अपना आहार पूर्ण किया। गरीब श्रावक ने भक्तिभाव और प्रमुदित मन से आहार दिया वह धन्य-धन्य होता हुआ आचार्यश्री के प्रति अनुग्रह भाव से देख रहा था।

आचार्यश्री ने बाद में बताया कि उस दिन सामायिक में बहुत मन लगा और अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक देर तक सामायिक में ध्यानस्थ रहे। शुद्ध तथा पवित्र मन से दिये गये आहार का परिणाम पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

अद्‌भुत शिल्पी

आचार्य शान्तिसागरजी महाराज को मुनिवर श्री पायसागर के जीवन शिल्पी कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।
मिथ्यात्व की अंधेरी गलियों से सम्यक्त्व के राजमार्ग पर लाने का श्रेय आचार्यश्री को ही है। मुनि श्री पायसागर गृहस्थावस्था में एक नाटक कम्पनी में प्रमुख अभिनेता थे। बाद में बम्बई के मिल मालिकों के विरोध में मिल मजदूरों के सत्याग्रह को प्रोत्साहन देकर एक क्रान्तिकारी सरीखा जीवन व्यतीत किया। लेकिन जल्दी ही जटाविभूतिधारी चिदम्बर बाबा का रूप धारण करके काशी पहुँचे और हर प्रकार के साधुओं के सम्पर्क में आये।

जटाजूट धारी पाखण्डी संन्यासी के छद्‌म रूप में वे स्वयं यह विचार करने लगे कि इस प्रकार आत्मवंचना करते हुए क्या वह अपना कल्याण कर सकता है। अस्तु साधु का वेश त्याग करके सुसज्जित वस्त्रों को पहनकर एक गुण्डा के रूप में स्वच्छन्द विचरण करने लगे।

सुयोग कहिए कि आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज का कौन्नूर में आगमन हुआ वहाँ पायसागरजी ने आचार्य श्री के प्रथम दर्शन किए।

श्री पायसागरजी ने बताया कि कुछ जैन बन्धुओं ने महाराज से मेरे विषय में कहा कि जैन कुलोत्पन्न होते हुए भी महाव्यसनी है और इसे णमोकार मन्त्र तक पर श्रद्धा नहीं है।

महाराजश्री यह बात सुन रहे, उनके मुखमण्डल पर परम तेज और शान्ति की अमिय आभा झलक रही थी।
उन्होंने मात्र यही कहा था – आज हमारे दर्शन किए हैं, इसलिए इसे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा।

श्री पायसागरजी ने कहा–"मैंने उन्हें आध्यात्मिक जादूगर के रूप में देखा। मेरे मन में प्रसुप्त वैराग्य का बीज अंकुरित होने लगा।

आचार्यश्री के इस अविस्मरणीय दर्शन ने मेरे प्राणों में ऊर्जा जगा दी। न जाने मुझे क्या हो गया? मुझे ऐसे लगा जैसे अंधे को आँख मिल गयी हो।''

कल के स्वच्छन्द और उद्दण्ड व्यक्ति ने एक माह के भीतर ही आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर सप्तम प्रतिमा ग्रहण कर ली।

आचार्यश्री बड़े मन पारखी थे। उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि से मुझमें ऐसी कौन-सी बात निहार ली जब मैंने दूसरे माह क्षुल्लक दीक्षा की प्रबल भावना की तो उन्होंने मुझे कृतार्थ कर दिया।

ठीक छह वर्ष के पश्चात् 1929 में सोनागिरि में मैंने दिगम्बर दीक्षा ले ली।

आचार्यश्री की दिव्यदृष्टि ने मेरा जीवन ही बदल दिया। जैसे लोहे को पारस पत्थर मिल गया हो। आचार्यश्री की मुझ पर अनंत कृपा रहीं।

मेरी विदाई के समय आचार्यश्री ने कहा था- ''पायसागर! बहुत होशियारी से चलना, स्वरूप में जागृत रहना, दुनिया कुछ भी कहती रहे, तू योग निद्रा में लीन रहना।'' पायसागर महान् कलाकार थे। मुनि बनने के बाद उनको कला में और अपूर्वता आ गई और वे मोक्षमार्ग के अभिनेता के रूप में विख्यात होने लगे।

संस्मरण : आचार्यश्री

कुछ तथाकथित विद्वान यह कहते हुए पाये जाते हैं कि पंचम काल में यहाँ से किसी को मुक्ति नहीं मिलती इसीलिए हम अभी मुनि नहीं बनते बल्कि विदेह क्षेत्र में जाकर मुनि बनेंगे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य श्री जी ने कहा कि- जो व्यक्ति यहाँ मुनि न बनकर विदेह क्षेत्र में जाकर मुनि बनने की बात करते हैं, वे ऐसे खिलाड़ी की तरह हैं जो अपने गाँव की पिच पर मैच नहीं खेल पाते एवं कहते हैं मैं तो विदेश में मैच खेलूंगा या सीधा विश्व कप में भाग लूंगा।

पक्षियों पर दया

सातगौड़ा जन्मजात सन्तात्मा थे। गृहस्थावस्था में उन्होंने कृषि कर्म करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन, संयम, अहिंसा और सत्य आचरण के साथ किया।

बाबा ने बताया- हमारे खेत से लगा हुआ महाराजश्री, जिन्हें हम पाटील कहते थे, का खेत था। मेरी आर्थिक स्थिति कमजोर थी, जबकि पाटील साहब श्रीमन्तों की श्रेणी में आते थे। बाबा कहने लगे – खेत में जब फसल खड़ी होती थी तो हमारे खेत में हजारों सैकड़ो पक्षी दाना चुगने आते थे। मैं उन्हें उड़ाता था, तो वे पक्षी उनके खेत में जाकर दाना चुगने लगते थे।

महाराजश्री उन पक्षियों को दाना चुगते हुए देखते थे। वे कभी भी उन्हें नहीं उड़ाते थे। पक्षियों को चुगते हुए देखकर चुपचाप वे न जाने क्या सोचने लगते थे, मानो वह खेत उनका न हो।

एक दिन मैंने पाटील साहब से कहा –"तुम अपने खेत से पक्षियों को नहीं उड़ाते हो। कहो तो सारे पक्षी तुम्हारे खेत में पहुँचा देवेंगे।" उन्होंने कहा "तुम भेजो गण भैय्या हमारे खेत का सारा अनाज ये पक्षी खा लेंगे फिर भी हमारे यहाँ कमी नहीं होगी।"

पाटील साहब से कहा –"तुम तो साधु नजर आते हो। यदि पक्षियों पर इतनी दया है तो झाड़ पर पानी क्यों नहीं रख देते, नीचे मिट्टी के बर्तनों में क्यों रखते हो? महाराज श्री बोले –ऊपर पानी रखने पर पक्षियों को नहीं दिख पायेगा इससे नीचे रखते हैं।"

इस दयापूर्ण भावना को विचारकर हम उसी समय सोचते थे कि पाटील असाधारण व्यक्ति हैं, जो पक्षियों के प्रति दयावन्त हैं, वह सामान्य कैसे हो सकता है। बाबा गण ज्योति कहने लगे –"मैं सच कहता हूँ, जब पूरी फसल आती और अनाज निकालते थे तो उनके खेत में अपेक्षाकृत अधिक अनाज उत्पन्न होता था। दया के भावों का यह महनीय प्रभाव मैंने साक्षात् अनुभव किया था।"

आगम की बात

पूज्य आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज से जब कोई आगम/अध्यात्म सम्बन्धी जटिल प्रश्न करता, तो वे उसका तुरन्त उत्तर नहीं देते थे। पहले वे उस विषय या वस्तु पर गहरा चिन्तन करते और फिर सयुक्ति समाधानपरक उत्तर देते थे।

एक बार एक श्रावक ने कहा –"महाराज श्री। आप तुरन्त उत्तर क्यों नहीं देते?" प्रत्युत्तर में आचार्यश्री ने कहा –"क्या आप मुझे सर्वज्ञ समझते हैं? क्या आप लोग यह धारणा बना बैठे है कि लंगोटी त्यागने मात्र से सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है? बिना सोचे/समझे उत्तर देने पर आगम के कथन का विरोध संभव है। मैं आगम के विरुद्ध कोई कथन करके नरक गति में जाना नहीं चाहता हूँ।"

"यह हो सकता है कि मेरे द्वारा उत्तर न देने पर लोग मुझे अज्ञानी समझेंगे, परन्तु इसमें मेरी कोई हानि नहीं। आगम के विषय में, उचित विचार किये बिना बोलना अकल्याणकारी है।"

महान् व्यक्ति अहंकार नहीं करते। जो ज्ञान-सम्पदा उनके पास नहीं, उसको नम्र भाव से स्वीकार कर वे अपनी अज्ञानता को आडम्बर से छिपाते नहीं है।

संस्मरण : आचार्यश्री

कुण्डलपुर में आचार्य श्री जी के पास एक सज्जन आये और वे कहने लगे कि महाराज यह पुस्तक कीमती है(लगभग ३००/-)जो आपको पढ़ने के लिए लाये हैं। इस पुस्तक को आप अवश्य पढ़ियेगा।

आचार्य श्री ने कहा कि इस पुस्तक से कीमती हमारा समय है। इस पुस्तक से कीमती हम अपना समय खर्च नहीं कर सकते।

व्रती बनने की प्रेरणा

बारामती के दानवीर सेठ तुलजारामजी आचार्यश्री के अनन्यभक्त थे, जिन्होंने साठ हजार की बोली लेकर कुंथलगिरि में देशभूषण कुलभूषण भगवान् की प्रतिमा विराजमान करवायी थी।

आचार्यश्री उन्हें बार-बार व्रत लेने के लिए प्रेरित करते थे। एक बार महाराजश्री ने स्पष्टत: कहा-"तुम्हारे व्रत लेने के भाव नहीं होते, इससे ऐसा लगता है कि तुम्हारी किसाी कुगति या नरकगति का बंध हो गया है, क्योंकि तीन आयुओं का बन्ध होने पर जीव को संयम लेने के परिणाम नहीं होते।"

सेठ तुलजारामजी अपनी व्रत न ले पाने की कमजोरी को छिपाते हुए कहने लगे-"हमारी छह पीढ़ियों में मुझसा भाग्यशाली नहीं हुआ है, जिसने आप जैसे श्रेष्ठ वीतरागी गुरु का दर्शन का सौभाग्य लिया हो। रही त्याग की बात, वह तो कभी भी पूर्ण हो जायेगी। लेकिन महाराज जब अव्रती श्रावक भी स्वर्ग जाता है और व्रती श्रावक भी तो व्रती बनने की क्या जरुरत है?" उत्तर में परम पूज्य आचार्यश्री बोले-"व्रती के देवगति जाने का नियम है, परन्तु अव्रती के कोई पक्का नियम नहीं है।"

सेठजी पुन: कहने लगे -"महाराजश्री आप मुझको जबरदस्ती व्रत लेने के लिए क्यों बार-बार कहते हैं?"

महाराजश्री का अनुकम्पा भरा हृदय भाव देखें -"वे बोले स्वर्ग जाते समय हमें अपना दूसरा साथी चाहिए-सोवती पाहिजे। फिर कोई दूसरा शान्तिसागर आकर नहीं कहेगा।"

इतना सुनते ही सेठ साहब प्रायश्चित भाव से इतने विगलित हो गये कि शिरोनति होकर बोले -"महाराज! मुझे तो बस आपकी आज्ञा ही शिरोधार्य है। मुझे कृतार्थ करें।"

सेठजी की स्वीकारोक्ति पाकर आचार्यश्री ने उनके सिर पर

पिच्छी रख दी और यथोचित व्रत देते हुए आशीर्वाद दिया-"तुम्हारा कल्याण हो, धर्मवृद्धि हो। मुझे तुम्हें व्रत देते हुए आनन्द की अनुभूति हो रही है।" गुरु शिष्य की परम्परा की यह अनोखी आत्मीय वात्सल्यता क्या कहीं अन्यत्र देखने को मिल सकती है?

संस्मरण : आचार्यश्री

आचार्य श्री जी ने अपने ही जीवन का संस्मरण सुनाते हुए कहा कि- एक बार एक वृद्ध श्रावक हमाने पास आये थे। उन्हें केंसर था। उन्हें डॉक्टर ने मना कर दिया था। उन्होंने निराश होकर मुझसे निवेदन किया कि- हे गुरुवर! आप ही हमें कुछ इलाज बताइये। तब आचार्य श्री जी ने कहा कि- हमारे पास कोई भी ग्रहण करने की नहीं बल्कि त्याग करने की दवाई है, लेना हो तो ले लो। उन्होंने कहा- आप जो कहेंगे उसके लिए मैं तैयार हूँ। तब मैंने कहा कि- रात्रि में चारों प्रकार के आहार त्याग कर दो। तब उन्होंने कहा- आचार्य श्री जी रात्रि में दवाई लेनी पढ़ती है। तब मैंने कहा- जब डॉक्टर ने मना कर दिया है तो दवाई लेने से क्या लाभ? तो वह बोले ठीक है आचार्य श्री जी हम आजीवन रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हैं।

कुछ दिन बाद वह वृद्ध श्रावक दर्शन करने आए तो मैंने उनसे पूछा कि- नियम अच्छी तरह चल रहें हैं। तब उन्होंने कहा- जी आचार्य श्री जी मेरा तो आपकी कृपा से केंसर ही केन्सिल हो गया अर्थात् रोग ठीक हो गया।

आचार्य श्री जी ने कहा- यह है परिणाम-प्रत्यय का फ ल। परिणामों से चेतन-अचेतन सभी में परिवर्तन लाया जा सकता है। गरीब भी इस चिकित्सा को अपना सकता है बस धैर्य और श्रद्धान होना चाहिए।

नग्न रहने का कारण

एक बार आचार्यश्री शान्तिसागरजी के पास एक अन्य धर्मावलम्बी आया और धृष्टतापूर्वक कहने लगा -"महाराज! आप बन्दर की तरह नग्न क्यों रहते हैं?"

महाराजश्री ने शान्त स्वर में कहा -"यदि पैर में काँटा लग जाये तो उसे दूसरे काँटे से निकाल लिया जाता है। हमारा मन भी बन्दर की तरह चंचल है, उसे रोकने के लिए बन्दर की तरह नग्नता स्वीकार करना आवश्यक है।" इससे मन वश में हो जाता है।

महाराज के इन सयुक्तिक वचनों द्वारा मार्मिक उत्तर सुनकर वह अत्यन्त प्रभावित हुआ और आचार्यश्री का परम भक्त बन गया।

संस्मरण : आचार्यश्री

एक बार रास्ते में विहार करते हुए आ रहे थे। एक गाँव से गुजरना हुआ वहाँ दुकान पर एक भजन चल रहा था। "दुनिया बनाने वाले क्या तेरे मन में समायी, तूने काहे को दुनिया बनायी।"

इस पंक्ति को सुनकर आचार्य श्री के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान आ गयी तो साथ में चलने वाले सभी हँसने लगे। आचार्य महाराज ने कहा- ऐसा कहना ठीक नहीं बल्कि ऐसा कहो "दुनिया बसाने वाले क्या तेरे मन में समायी, तूने काहे को दुनिया बसायी।" संसार में तुम ही फं फँसे हो, गृहस्थी तुमने ही बसायी है खुद को दोषी कहो, भगवान को दोषी मत कहो।

क्षत्रिय धर्म

घटना सन् 1927, इस्लामपुर की है- आचार्यश्री संघ सहित, वहाँ से विहार करने वाले थे। जिन धर्म विद्वेषियों ने संगठन कर यह निश्चित किया कि इन सभी नग्न साधुओं को लंगोटी पहनाकर गाँव से निकलने देंगे।

साधुओं पर अप्रत्याशित रूप से आये संकट का मुकाबला करने के लिए हजारों क्षात्र धर्म वाले जैन तलवार, बन्दूक, भाला आदि लेकर इकट्ठे हो गये।

उस समय संघ मे विद्यमान मुनि श्री चन्द्रसागरजी ने लोगों से कहा कि-वे शान्त रहें उत्तेजित न हों।

आचार्यश्री ने जब यह सुना तो उन्होंने मुनिश्री से कहा - इस समय शान्ति का आदेश असामयिक है।

जब धर्म की प्रतिष्ठा को आँच आने लगे तब उसकी रक्षा के लिए जो भी संभव हो, करना चाहिए। यह शान्त रहने का मौका नहीं है। जब विधर्मी, निर्ग्रन्थ साधुओं को वस्त्र पहनाने की तैयारी कर रहे हों, उस समय समर्थ धार्मिक लोगों को चुप होकर नहीं बैठ जाना चाहिए।

परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति करने का जैनधर्म का आदेश है। क्षत्रिय वृत्ति के काल में, वैराग्यपना दिखाने से सद्धर्म संरक्षण नहीं हो सकता।

इस समय आचार्यश्री की दृष्टि एक तेजस्वी क्षत्रिय धर्म के अनुरूप थी, जो अहिंसा का परम तेजस्विता का ही रूप था।

पुष्प चरणों के आगे

धार्मिक क्रियाओं में यह विवेक अपेक्षित हैं कि कम से कम आडम्बर हो। यद्यपि पूजा पद्धति के कारण जैनधर्म में पंथवाद प्रवेश कर चुका है, परन्तु आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने विवेकशून्य धार्मिक आचरण को प्रोत्साहित नहीं किया।

एक बार पण्डित मक्खनलालजी ने प्रातःकाल ताजा सुन्दर गुलाब का पुष्प लाकर आचार्यश्री के चरणों पर रख दिया। आचार्यश्री ने पण्डितजी से कहा-"आप विद्वान् हैं फिर यह अतिरेक कैसा?" पण्डितजी बोले-"जब पूजा में देव प्रतिमा को पुष्प चढ़ाया जाता है तो गुरु को क्यों नहीं चढ़ा सकते?"

आचार्यश्री ने कहा -"भाई श्रद्धा हो तो सामने चढ़ाओं परन्तु शरीर के किसी भाग पर नहीं। अन्यथा लोग धीरे-धीरे सिर पर चढ़ाने लगेंगे, जिससे दिगम्बरपना ही समाप्त हो जायेगा।"

पुष्प में सूक्ष्म जीव होते हैं, जिन्हें हमारे शरीर की गर्मी से बाधा पड़ सकती है। अतः विवेक बहुत आवश्यक है।

एक बार इसी अविवेक के कारण एक मुनिराज के प्राण संकट में पड़ गये थे। घटना यह थी कि वे ज्वर से पीड़ित थे और लोगों ने प्रतिमा की भाँति उनका भी पञ्चामृत अभिषेक कर दिया जिससे मुनिराज का ज्वर सन्निपात में परिवर्तित हो गया।

भक्ति के अतिरेक में अपना विवेक नहीं खोना चाहिए।

निर्दोष चर्या

आचार्यश्री जब गृहस्थावस्था में 32 वर्ष के युवा थे, तब नित्य निर्वाणभूमि श्री सम्मेदशिखरजी की वन्दना की स्मृति को चिरस्थाई बनाने के लिए उन्होंने जीवन भर के लिए घी और तेल के सेवन का त्याग कर दिया।

घर आते ही भावी मुनिराज ने दिन में एक बार भोजन करने की प्रतिज्ञा ले ली।

ग्यारह प्रतिमाओं के आरोहण स्वरूप क्षुल्लक अवस्था में, गिरनार पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ के चरणों की वन्दना कर विचार करने लगे कि इसे कैसे अविस्मरणीय बनायें और वहीं ऊपर का दुपट्टा त्याग कर ऐलक के व्रत अंगीकार किए।

गिरनार पर्वत से लौटे तो जीवन भर के लिए सवारी का त्याग कर, पद-विहार करने की प्रतिज्ञा ले ली।

गिरनार से लौटते हुए शाम ढलने वाली थी। वे आहारचर्या हेतु निकले। पड़गाहन होने के पश्चात् आहार शुरु करने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि घड़ी की ओर चली गई। सर्दी के दिन थे, सूरज जल्दी अस्ताचल की ओर जाने को उद्यत था।

विचार करने लगे। यदि आहार करता हूँ तो इतना समय लग जायेगा कि रात्रिभोजन का दोष लग जायेगा। सूर्य का अभी प्रकाश था। यात्रा की थकान और जठराग्नि तीव्र थी, फिर भी महाराज श्री आहार की लोलुपता को त्याग कर बाहर चले आये।

लोगों ने कारण पूछा -"महाराज! क्या असावधानी हो गई।" उन्होंने शान्त भाव से कहा -"भोजन विधि में कोई दोष नहीं था, किन्तु विलम्ब से आहार लेने से, व्रत में दोष लगने की संभावना थी अतः आहार त्याग देना उचित समझना।"

गुरु की महानता

एक गाँव में एक मुनि महाराज अस्वस्थ हो गए। रोग की असाध्यता देखकर श्रावकों ने उन्हें यम-सल्लेखना धारण करा दी। धीरे-धीरे मुनिश्री को प्यास की वेदना सताने लगी और जब वे उस वेदना को सहन नहीं कर पाये तो पानी माँगना प्रारम्भ कर दिया। श्रावकों द्वारा जल उपलब्ध न कराने पर वे उन्हें अभिशाप और अपशब्दों की धमकी देने लगे।

पास ही के ग्राम में आचार्य शान्तिसागरजी का चातुर्मास हो रहा था। गाँव के लोग उनके पास आये और उनका मार्गदर्शन चाहा। आचार्यश्री ने श्रावकों को रात्रि विश्राम करने को कहा। दूसरे दिन प्रातःकाल ही विहार करके वे स्वयं उस गाँव में पहुँच गये और समाधि रत साधु के पास जाकर स्वयं नमोस्तु किया।

महान् संत आचार्यश्री शान्तिसागरजी को अपने सामने झुकते देखकर वे मुनि तो अचरज में पड़कर घबरा गये।

उनके मुख से निकला -"महाराज! यह आप क्या कर रहे हैं? मैं तो आपका शिष्य हूँ। आप मेरे प्रणम्य हैं, मुझे नमन क्यों कर रहे हैं।" आचार्यश्री ने उत्तर दिया -"चिन्ता मत करो। समाधि में लगा हुआ साधु बहुत ऊँचा होता है। हमें यह ज्ञात हुआ है कि तुम्हें तृषा की बाधा है, तुम्हारे माँगने पर भी इस गाँव के लोग पानी नहीं दे रहे हैं। हम अपने कमण्डलु में प्रासुक जल लेकर आये हैं। उठो, तुम्हें पानी पिलायेंगे।" महाराजश्री के मुख से सर्वथा अनपेक्षित शब्द सुनकर वह मुनि असमंजस मे भरे हुए सहारा लेकर बैठ गए।

तब आचार्यश्री ने उन्हें सम्बोधित किया - "अरे भाई! कुछ पता है पिछले जन्म में कहाँ, किस गति में थे? उसके पहले भी कहाँ थे? इस जीव ने चौरासी लाख योनियों में से एक भी योनि अछूती नहीं छोड़ी।

कभी मगर-मत्स्य हुआ तो भी नरक के अनंत दुःख भोगे। तब भी क्या तेरी प्यास बुझ पायी? वह निरन्तर बढ़ती ही रही।"

केवल संयम ही ऐसा है, जो इसके पहले प्राप्त नहीं हुआ था। इस वर्तमान पर्याय में शुभोदय से संयम का सुयोग मिला है। आज तुम्हारी देह की तृषा आत्मा की निधि को नष्ट करना चाहती है। दोनों ही उपाय तेरे सामने हैं। तुम स्वयं निर्णय करो कि तुम्हें क्या इष्ट है? देह की तृषा बुझाने के लिए जल चाहता है या आत्मा को तृप्त करने वाले संयम की रक्षा करना चाहता है? तू इन दो में से किसी एक को ही प्राप्त कर सकेगा, क्योंकि दोनों एक साथ नहीं सधेंगे।

आचार्यश्री का मार्मिक सम्बोधन पूर्ण होने तक तो मुनिश्री के परिणामों में परिवर्तन आ चुका था।

गुरु चरणों का सान्निध्य पाकर वे गिरने से पहले ही संभलने का सौभाग्य पा चुके थे। पश्चाताप से विगलित हो, उनका गला भर आया। दोनों हाथ बढ़ाकर आचार्यश्री के चरण बड़ी दृढ़ता से पकड़ लिये। उनके मुख से बस एक ही वाक्य निकल सका - इन चरणों की शरण ही चाहिए, महाराज! महाराज! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। जब तक यह पर्याय पूर्ण न हो जाए, इन चरणों का सान्निध्य मिलता रहे, बस इतनी कृपा कर दीजिए। मैंने अब सब कुछ पा लिया है।

साधक के परिणामों में एक अनोखी दृढ़ता अवतरित हो गई और दूसरे दिन उत्कृष्ट सल्लेखना पूर्वक, शान्त परिणामों के साथ उन्होंने अपनी पर्याय पूरी करके सद्गति प्राप्त की।

सहज समाधान

आचार्यश्री शान्तिसागरजी के चातुर्मास काल में, दो युवक उनकी परीक्षा लेने के अभिप्राय से उनके पास आये।

आचार्यश्री के आचार-व्यवहार और चर्या आदि का अवलोकन किया। जब कोई दोष नहीं दिखा तो कुछ न कुछ तो आलोचना करनी ही थी, क्योंकि वे उसी अभिप्राय से आये थे।

एक युवक ने शास्त्र ज्ञान का सन्दर्भ देते हुए कहा-"आप तो जिनालय में ठहरे हुए है, जबकि दिगम्बर मुनि को शून्यागार, विमोचितावास आदि में या वन मे रहना चाहिए।"

महाराज सुनकर चुप रहे। प्रेम से पुछा -" कहाँ से आये हो? भोजनादि की व्यवस्था हुई या नहीं? आगन्तुकों ने बताया कि संघ के श्रावकों ने भोजन का निमन्त्रण दे दिया है।"

तब महाराज ने पूछा-"यह सामने कौन-सा वृक्ष खड़ा है?"

"यह आम का वृक्ष है महाराज! इसे तो सभी जानते हैं।"

तब आचार्यश्री ने कहा -"उसमें से दो-चार आम तोड़कर ले आओ, तुम्हारे भोजन के काम आयेंगे।"

"महाराज! सावन के महीने मे वृक्ष पर आम कहाँ से मिलेगा? वह तो अपने ऋतु में फलता है (वैशाख-ज्येष्ठ में)।"

महाराज ने सस्मित उत्तर दिया - "भाई! तुम्हारी बात का उत्तर हो गया।" इस कलिकाल में वन-वनांतर में निवास करने वाले साधु तुम्हें कहाँ मिलेंगे। ऐसे दृढ़ संहनन वाले निर्भीक साधु तो चतुर्थकाल में ही हो सकते हैं।

युवक निरुत्तर था। आचार्यश्री की निश्छलता और साधु की विवशता, दोनों उसकी समझ में आ चुकी थी। अस्तु वह चरण स्पर्श करके वापस चला गया।

लेकिन प्रश्नकर्ता युवक भीतर से तैयारी करके पुनः लौटा और व्रत–संयम आदि ग्रहण करके संघ में सम्मिलित हो गया। कालान्तर में साधना करते हुए दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की और संयम की कठोर साधना में निरत हो गए।

एक दिन वह योग्यतम शिष्य अपने गुरु का ही उत्तराधिकारी बनाया गया। आचार्यश्री ने स्वयं उसे अपना आचार्य पद प्रदान किया।

उन महामुनि का नाम था – आचार्य वीरसागरजी महाराज।

संस्मरण : आचार्यश्री

किसी ने आचार्य श्री जी से पूछा कि– सम्यग्दृष्टि सुखी रहता है या दुःखी? तो आचार्य श्री जी ने कहा कि– परिस्थिति के अनुसार सम्यग्दृष्टि सुखी भी रहता है और दुःखी भी। जब स्वयं पर आपत्ति आती है तो यह कर्म निर्जरा का साधन है ऐसा विचार कर खुशी से सहन करता है, लेकिन जब दूसरे पर आपत्ति या कष्ट आता है तो उसे देखकर सम्यग्दृष्टि की आँखों में आँसू आ जाते हैं। दूसरे के दुःख के देखकर दुःखी होकर उसके दुःख को दूर करने का पूर्ण प्रयास करता है। अपने ऊपर आई हुई आपत्ति को वज्र के समान होकर सहन करता है जब दूसरों पर आपत्ति आती है तो नवनीत के समान पिघल जाता है।

आचार्य श्री जी ने आगे कहा कि– वैसे सम्यग्दृष्टि हमेशा सुखी ही रहता है और आपत्ति के समय अपनी आत्मा को समझाते हुए कहता है कि– हे आत्मन्! तू रोता क्यों है? तुझे तो तीन लोक की दुर्लभ वस्तु धर्म की प्राप्ति हुई है। याद रख सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान रखने जैसा मौलिक पदार्थ दुनिया में कहीं भी नहीं है।